विकास प्रेरित विस्थापन तथा पुनर्वास

प्रस्तावना- विकास एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, हालांकि हर विकास के अपने सकरात्मक और नकरात्मक नतीजे होते है और हर विकास की नीव विस्थापन की शर्त पर डाली जाती हैं। मानव सभ्यता का इतिहास और विस्थापन संभवतः समानांतर धाराएं हैं। पहला विस्थापन कब हुआ, यह जान पाना तो असंभव है परंतु घुमंतु समुदाय का एक जगह ठहर जाना, वहां कुछ वर्ष रहकर यदि उन्हें प्राकृतिक अथवा बलात् उस जगह को छोड़ना पड़े तो क्या उसे विस्थापन माना जा सकता है? अनादिकाल से विभिन्न सभ्यताओं के अंतर्गत अनेक नगरों और भौतिक संपदाओं के निर्माण ने संभवतः विस्थापन की नींव रखी होगी। विस्थापन की नींव में मूलतः भौतिक विकास ही रहा है और भारतीय समाज की इसके प्रति वितृष्णा ऋग्वेद काल के बाद प्रकट होती है। इस संबंध में भगवान सिंह ने लिखा है, प्राचीन भारत में भौतिक विकास को लेकर एक कुंठा उत्पन्न हो गई थी। ऋग्वेद के बाद का चिंतन इस कुंठा का ही चिंतन है, जिसमें यह चेतना व्यापक रूप से फैली कि ज्ञान से, भौतिक प्रगति से, सुख सुविधा के समान जुटाने से कुछ नहीं होता। अपने समय को देखते हुए असाधारण भौतिक प्रगति करने वाले समाज ने मनुष्य के रूप में अपना पतन न किया हो तो उत्थान भी नहीं किया। विकास की सीढ़ी चढ़ते मनुष्य ने अपने सामने आई हर वस्तु को अपना दुश्मन समझा और थोड़े से लोगों के आराम व मनोरंजन के निमित्त उसने जंगलों पहाड़ों को नष्ट किया, जीव-जंतुओं का संहार किया। धरती, आकाश व समुद्र तक को इस हद तक प्रदूषित कर डाला है कि अब उनके पूर्व स्थिति में आने की संभावनाएं नित्य प्रति धूमिल होती जा रही है। विकास की इस अंधी दौड़ में हमने भस्मासुर को अपना लिया और अपने ही विनाश में लग गए। इस विकास के कारण लाखों-करोड़ लोग अपने परिवार तथा घर-द्वारसे विस्थापित हुये हैं। अध्ययनों से ज्ञात होता हैं की 1947 और 2004 के बीच लगभग 6 करोड़ लोग विस्थापित हुए जिनमें 40 फीसदी आदिवासी और 20 फीसदी अनुसूचित जातियों के थे। इन विस्थापित लोगों में से 18 से भी कम फीसदी का पुनर्वास हुआ। बाँध, कारखानों, रेल, हवाई जहाज, औद्योगिक क्षेत्र, शहरी बसाहट, सुरक्षित वन, बाघ अभ्यारण्य, सड़क निर्माण, परमाणु एवं ताप विद्युतगृह, खेल के स्टेडियम से लेकर श्मशान बनाने तक के लिए एक मोटे अनुमान के अनुसार आज़ादी के बाद से करीब 10 करोड़ नागरिक विस्थापित हुए हैं। विस्थापन ने लाखों स्वतंत्र उत्पादकों को धनविहीन श्रमिकों में तबदील कर दिया। पुस्तैनी घर को उजरते देखना भयावह मंजर जैसा होता है। सरकार कहती है कि हम विस्थापितों को आश्रय दे रहे हैं पर उसे क्या पता कि, जिस पेड़-पौधों को पुत्र के जैसा पाला-पोषा है उसका क्या, जिन पक्षियों की कोलाहल से सुबह-शाम होती, क्या पुनर्वास के जगह पर वह मिल पाएगा, क्या भावनाओं को किसी पैसे की तराजू पर तौला जा सकता है, या यों कहें कि विकास के लिए लोगों के दर्द को क्या किसी रिक्टर पैमाने पर मापा जा सकता है।

विस्थापन की इस पूरी प्रक्रिया को समझाते हुए अरुंधति राय कहती हैं, 'लाखों लाख विस्थापितों का अब कोई वजूद नहीं है। जब इतिहास लिखा जाता है, वे इसमें नहीं होते। आंकड़ों में भी नहीं। उनमें से कुछ लगातार तीन

बार और चार-बार विस्थापित हुए हैं। बांध के लिए, चांदमारी के इलाके के लिए, दूसरे बांध के लिए, यूरेनियम की खान के लिए, बिजली परियोजना के लिए। एक बार वे लुढ़कना शुरू करते हैं तो फिर रुकने की कोई जगह नहीं होती। इनमें से बहुत बड़ी संख्या आखिरकार हमारे बड़े शहरों की परिधि पर झोपड़पट्टियों में खप जाती है, जहां यह सस्ते निर्माण मज़दूरों की बहुत बड़ी भीड़ में बदल जाती है (जो और ज्यादा परियोजनाओं पर कार्य करती है जिससे और ज्यादा लोग बेदखल होते है)। सही है कि उनका सफाया नहीं किया जा रहा है या उन्हें गैस चैंबरों में नहीं डाला जा रहा है, मगर मैं दावा करती हूं उनकी रिहाइस का स्तर थर्ड राइख (नाजीकेंप) के किसी यातना शिविर से बदतर है। वे कैदी नहीं हैं, लेकिन वे मुक्ति के मतलब की एक दूसरी ही परिभाषा देते हैं।'

पश्चिमी देशों द्वारा तथाकथित आधुनिक सुनियोजित विकास ने अपनी परिधि में पूरी दुनिया को समेट लिया। यूरोप को अपने कल-कारखानों के लिए कच्चे माल की आवश्यकता थी अतएव सारी दुनिया की खनिज संपदा पर उनकी निगाह पड़ी। इस तरह जमीन के नीचे दबे खनिजों को बड़े पैमाने पर निकालने के लिए उन पर बसे आदिवासियों को खदेड़ने की जो शुरुआत तीन शताब्दियों पूर्व हुई थी वह आज भी निरंतर जारी है। सिर्फ नाम बदल गए हैं पहले उनमें से एक ईस्ट इंडिया कंपनी थी, अब वेदांता है और यह अजीब सा दुर्योग है कि दोनों के मुख्यालय लंदन में ही हैं।

अध्ययन के दौरान पाया कि वेदांता जो उड़ीसा की नियमगिरि पहाड़ी से एल्यूमिनियम निकालने के लिए एक पैर पर खड़ी है और कुछ हिस्सों में उसने यह कार्य आरंभ भी कर दिया है, में निवास करने वाली व विस्थापन की विभीषिका झेलने वाली डोंगरिया कोंध जनजाति के कृष्णा वडाका का कथन सचमुच में आँखे खोल देता है। कृष्णा का कहना है, 'वे (वेदांता) कहते हैं कि हमारी नियमगिरि पहाड़ियों की चट्टानों में एल्यूमिनियम नाम का बहुत मूल्यवान खनिज है। मेरे पूर्वजों ने कभी इसकी परवाह नहीं की। क्योंकि जब हमारे देवता 'नियमराजा' ने हमें जमीन के ऊपर सब कुछ दे रखा है तो हम अपने पैरों के नीचे की जमीन से कुछ भी निकाल कर क्यों खाएँ? क्या एल्यूमिनियम हमारे जीवन, हमारी पहाड़ियों और हमारे जंगलों से भी अधिक महत्वपूर्ण है? वे कहते हैं कि एक युद्ध लड़ा जाएगा, बहुत बड़ा युद्ध। इसके लिए बहुत सारे हथियारों की आवश्यकता पड़ेगी। एल्यूमिनियम ऐसी धातु है जिससे ऐसे हथियार बनाए जाएँगे जो लाखों लोगों को मार सकते हैं। वे लाखों लोगों को क्यों मरना चाहते हैं? क्या वे हम लोगों जैसे बैठकर आपस में निपटारा नहीं कर सकते? कृष्णा का दर्द पूरी मानवता का दर्द है और उसका प्रश्न किसी एक व्यक्ति से नहीं बल्कि पूरी आधुनिक विकास प्रणाली से है। अत: विकास प्रेरित विस्थापन को समझने की जरूरत हैं, ताकि विकास एवं विस्थापन को संयोजित किया जा सके।

विकास प्रेरित विस्थापन का इतिहास- गौरतलब है कि लोगों को उनके संसाधनों से अलग करने की प्रक्रिया औपनिवेशिक काल में ही शुरू हो गई थी और 1947 के बाद योजनाबद्ध विकास में यह और भी ज्यादा बढ़ी। आजादी के बाद होने वाले विस्थापन की जड़ें दरअसल आजादी के पहले से जारी प्रक्रिया से जुड़ी हुई है, खासतौर पर भूमि अधिग्रहण कानून 1894 (एलएक्यू) से। यह राज्य को अधिकार देता है कि वह लोगों से बिना पूछे उन्हें उनकी जमीन से विस्थापित कर दे। लेकिन इस कानून के लागू होने के सौ साल बाद भी आज तक यह परिभाषित नहीं हो

पाया है कि जिस जनहित के नाम पर लोगों को बेदखल किया जाता है वह जनहित आखिर है क्या। यही वजह है कि विस्थापन की प्रक्रिया आज भी उसी तरह बदस्तूर जारी है जिस तरह 1947 से पहले के दौर में होती थी, इसका कारण यह है कि आज भी विकास के प्रतिमानों में कोई बदलाव नहीं आया है। यही नहीं, विस्थापन और अभाव की प्रकृति में भी बदलाव आया, पहले महज प्रक्रिया आधारित दखल से बढ़कर यह भूमि और उनकी आजीविका के सीधे नुकसान तक पहुँच गई। धीरे-धीरे इसकी तीव्रता बढ़ी लेकिन जागरूकता और पुनर्वास दोनों ही क्षेत्रों में कमजोरी रही। इसका मुख्य कारण यह है कि विकास के प्रतिमान औपनिवेशिक देशों से लिए गए और स्वतंत्र भारत के निर्णयकारी लोगों द्वारा जस के तस लागू कर दिए गए। योजनकारों ने सारे अहम निर्णय 'राष्ट्र निर्माण' के सिद्धांत के आधार पर लिए। इसमें यह माना गया कि कुछ लोगों को विकास की कीमत जरूर चुकानी होगी लेकिन यह इस मायने में लाभप्रद भी होगा कि विकास के फायदे सभी तक पहुँच जाएँगें। जब विकास के फायदे बहुसंख्यक तक पहुँचने में नाकाम रहे तो यह नजरिया बदलकर 'राष्ट्रीय विकास' का हो गया। जवाहरलाल नेहरू तथा पीसी महलनोबिस सरीखे लोग जिन्हें देश की मिश्रित अर्थव्यवस्था के पीछे का मुख्य दिमाग माना जाता है, ने भारत की समस्याओं के निदान के लिए तकनीक को ही मुख्य समाधान के तौर पर लिया। 'भारत एक खोज' में नेहरू इस बात पर जोर देते हैं कि औद्योगिकीकरण एक लोकतांत्रिक ढाँचे के तहत ही किया जाए। इसमें साम्यवादी तानाशाही और पूँजीवादी शोषण के लिए कोई जगह नहीं होनी चाहिए। ऐसा करने के लिए भारत को उसके अंधविश्वासों और रूढ़िवादी से बाहर निकलना होगा, परंपराएँ बदलनी होंगी और खुद को आधुनिक बनाना होगा। इसी विचारधारा ने उन्हें बड़े बाँधों और उद्योगों को आधुनिक भारत के तीर्थ घोषित करने के लिए प्रेरित किया। आधुनिकीकरण के नाम पर पूँजीपतियों ने अपना निवेश किया और यहाँ के प्राकृतिक संसाधनों पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए जोर आजमाई। बहुत ही कम लोग, जैसे महात्मा गांधी (1948) ने महसूस किया था कि उपनिवेशवादी देश अपने उपनिवेशों का शोषण कर अमीर बनते जा रहे हैं। इसी वजह से महात्मा गांधी ने स्वतंत्र भारत को पश्चिमी राह का अंधानुकरण करने से आगाह किया था। उन्होंने औद्योगिकीकरण का नहीं, उद्योगवाद का विरोध किया था। वे ऐसे विकास के विरोधी थे जो उस तकनीक और उपभोग की राह पर चलता था जो बहुमत की पहुँच से बहुत दूर था। इंग्लैंड सरीखे छोटे से देश ने दुनिया के आधे देशों को महज इसलिए वंचित बना रखा था ताकि उसके नागरिक अमीरों की तरह जी सकें। यहाँ हमें यह कहने में गुरेज नहीं कि, पूँजीपति तबका गरीबों को धरती पर बोझ के समान समझते हैं और वे मानते हैं कि नैसर्गिक संसाधनों पर उनका मालिकाना हक हो। एक सरकारी अध्ययन के अनुसार भारत की 60 प्रतिशत आबादी का देश की कुल भूमि के 5 प्रतिशत पर अधिकार है जबकि 10 प्रतिशत जनसंख्या का 55 फीसदी जमीन पर नियंत्रण है। इसी प्रकार भारत की सकल घरेलू उत्पाद का 70 फीसदी हिस्सा मात्र 8200 लोगों के पास एकत्र हो चुका है। इन परिस्थितियों में भूमि और आजीविका के मुद्दे पर गंभीरता से विचार करना जन-संगठनों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है।

भारत में विकास, विस्थापन की रणनीति और राजनीति- भारत में विकास की राजनीति और विस्थापन को समझने के लिए 19वीं शताब्दी पर नजर डालते हैं। इस दौरान विकास के एक प्रतीक 'रेलवे' को लेते हैं। भारत में सन् 1849 से रेल पथ निर्माण का कार्य प्रारंभ किया गया था। तत्कालीन योजनाकारों का मानना था कि भारत जैसे 'दरिद्र'

देश में 6 हजार मील रेल पथ बनाने से काम चल जाएगा। सन् 1873 में करीब 5697 मील रेलवे लाइन डल चुकी थी परंतु यह कार्य सतत् चलता रहा और 1906 में यह बढ़कर 29000 मील तक पहुंच गई थी। विकास के इस 'प्रतीक' को लेकर तब भी विरोध प्रारंभ हो चुका था और सितंबर 1900 में 'न्यू इंग्लैंड म्यागजिन' में अमेरिकन पादरी रेवरेंड जे.टी. रुयांडर ल्यांड ने लिखा था, 'शिक्षा-प्रचार, स्वास्थ्य रक्षा, नहर-खनन आदि कामों के लिए जिन्हें भारतवासी बहुत अधिक चाहते हैं, के लिए भारत सरकार के पास धन की चाहे जितनी कमी हो, रेल बनाने के लिए उनके पास खूब धन आ जाता है।' विकास की प्राथमिकताओं को लेकर यह द्वंद आज भी बरकरार है। सामान्य तौर पर यह माना जाता है कि भारत में रेलपक्ष निर्माण के लिए सर्वप्रथम भूमि अधिग्रहण को कानूनी रूप दिया गया होगा। परंतु वास्तविकता यह है कि इसके बहुत पहले सन् 1824 ई. में नियम-1 के तहत यह कार्यवाही प्रारंभ हो चुकी थी। सर्वप्रथम कोर्ट विलियम (मद्रास) में लागू इस नियमन में कहा गया था, "इस नियमन की आवश्यकता इसलिए है जिससे कि सरकारी अधिकारी सड़क, नहरें या अन्य सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वाजिब मूल्य पर ज़मीन एवं अन्य अचल संपत्तियों का अधिग्रहण कर सकें। इसके अतिरिक्त अधिकारियों एवं जमींदारों को (निश्चित इलाकों में) नमक बनाने के लिए जमीनें उपलब्ध करवाने हेतु इस नियम का उपयोग किया जाता था।" इस प्रक्रिया को 'दि डॉक्ट्रिन ऑफ इमिनेट डोमेन' भी कहा जाता था। जो कि ब्रिटेन का एक साधारण कानून था और इसके अनुसार राज्य का अपनी सीमा में आने वाली संपत्ति पर पूरा अधिकार रहता है और नागरिक से कभी भी सार्वजनिक उपयोग के लिए भूमि लेने का अधिकार राज्य के पास सुरक्षित है। इसके बाद बम्बई में सन् 1839 में भवन अधिनियम पारित किया गया जिसके अंतर्गत सरकार को वर्तमान सड़कों को चौड़ा करने या उनमें परिवर्तन करने, नई सार्वजनिक सड़क, ड्रेनेज, गली बनाने हेतु बम्बई एवं कोलाबा के टापू में भूमि अधिग्रहण का अधिकार मिल गया था। इसमें मुआवजा देने का प्रावधान भी किया गया था। सन् 1850 के अधिनियम क्रमांक 18 में रेलवे एवं अन्य सार्वजनिक सुविधा व अन्य कार्यों के लिए भूमि अधिग्रहण का प्रावधान किया गया। 1850 के ही कानून क्रामांक 42 के अनुसार 1824 के नियमन 1 के अंतर्गत अब बंगाल में भी इस कानून के अंतर्गत रेलवे एवं अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिए भूमि अधिग्रहण किया जा सकता था। सन् 1857 के अधिनियम क्रमांक 7 के लागू होते ही इस विषय से संबंधित पूर्ववर्ती सारे कानून रद्द हो गये। साथ ही यह ऐसा पहला ब्रिटिश कानून था जो कि पूरे भारत पर एक सा लागू हुआ। इसके अंतर्गत सार्वजनिक उद्देश्य हेतु भूमि अधिग्रहण एवं मुआवज़े का प्रावधान था तथा अस्थायी एवं स्थायी दोनों स्थिति में अधिग्रहण का प्रावधान था और सभी सार्वजनिक उद्देश्यों जिसमें सड़कें, रेल व नहरें शामिल थीं, के लिए भूमि अधिग्रहण संभव था। ध्यान देने योग्य बात यह है कि देश में अभी तक ब्रिटिश साम्राज्य का नहीं बल्कि ईस्ट इंडिया कंपनी का राज था। सन् 1857 के इस अधिनियम में सन् 1861 के कानून क्रमांक 2 के द्वारा बदलाव कर यह प्रावधान किया गया कि अब रेल, सड़क आदि के निर्माण के लिए अधिग्रहित भूमि के दोनों ओर की निश्चित सीमा तक की भूमि को भी कच्चे माल की आपूर्ति, अस्थायी सड़क आदि बनाने के लिए अधिग्रहित किया जा सकता है। कुछ मामलों में यह सीमा 2 मील तक की थी। इस कानून में पहली बार यह प्रावधान किया गया था कि विरोध की स्थिति में पुलिस कमिश्नर के द्वारा भूमि का कब्ज़ा दिलवाया जाए। ग़ौरतलब है कि इस समय तक भारत सीधे-सीधे ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बन चुका था।

सन् 1863 तक निजी व्यक्तियों या कंपनियों के लिए सार्वजनिक सुविधाओं के निर्माण हेतु भूमि अधिग्रहण का कोई कानूनी प्रावधान नहीं था। सार्वजनिक सुविधाओं से तात्पर्य था, कोई भी पुल, सड़क, रेलपथ, ट्रामपथ, सिंचाई या नौचालन हेतु नहर निर्माण, नदी या तट सुधार कार्य, कृत्रिम बंदरगाह निर्माण, समुद्री बंदरगाह, ड्रेनेज या बिजली का कार्य, टेलीग्राफ या इन सबसे संबंधित सहायक कार्य। यह कानून इन्हीं उद्देश्यों तक के लिए सीमित था। हालांकि यह गवर्नर जनरल काउंसिल के हाथ में था कि वे किसी अन्य कार्य को सार्वजनिक सुविधाओं में शामिल करने की अधिसूचना जारी कर सकते थे। उपरोक्त सभी क़ानूनों को एक साथ मिलाकर सन् 1870 में बने अधिनियम क्रमांक 10 का मुख्य उद्देश्य मुख्यतया मध्यस्थों से संबंधित न उल्लेखों को विलुप्त करना था जिनके माध्यम से प्रशासनिक निर्णय अंतिम निर्णय माने जाते थे। इस अधिनियम के जरिए यह प्रावधान किया गया था कि संबंधित पक्ष मुआवज़े की राशि हेतु अपने मामले लेकर दीवानी न्यायालय में जा सकें। इस अधिनियम के अंतर्गत अधिग्रहण से संबंधित विस्तृत प्रक्रिया का वर्णन किया गया था। इसी के साथ मुआवज़े के निर्धारण के संबंध में नियम भी इस अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए थे। इसके बाद बारी आई भूमि अधिग्रहण अधिनियम 1894 (1894 का क्रमांक 1) की। इसके माध्यम से 1870 के अधिनियम को रद्द कर दिया गया। इस कानून को भूमि अधिग्रहण से संबंधित पहले परिपूर्ण कानून की संज्ञा दी जा सकती है। इसे सार्वजनिक उद्देश्य एवं कंपनियों हेतु भूमि अधिग्रहण के उद्देश्य से संशोधित किया गया था। आज़ादी के बाद अनेक संशोधनों के साथ यह कानून आज भी प्रचलन में है। सन् 1894 के इस मूल अधिनियम में गैर सरकारी कंपनियों हेतु भूमि अधिग्रहण का प्रावधान नहीं था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गवर्नर जनरल परिषद के पास भी इस कानून के अंतर्गत सीमित अधिकार थे। परंतु आज़ादी के बाद भारत सरकार ने सन् 1984 में इस कानून में काफी सारे संशोधन कर भूमि अधिग्रहण (संशोधन) अधिनियम 1984 संसद से पारित कराया। इसके पारित हो जाने से इसके अंतर्गत कंपनी अधिनियम में पंजीकृत गैर सरकारी कंपनियों, सोसाइटी अधिनियम 1860 (2) के अंतर्गत पंजीकृत सोसायटियों और सहकारी समितियों के लिए भी भूमि अधिग्रहित की जा सकती है। मूल अधिनियम के अध्याय 4 के सह अध्याय (1) में किसी भी तरह के सार्वजनिक उद्देश्य के साथ ही साथ यह शब्द या एक कंपनी के लिए भी, घुसेड़ दिया गया। सन् 1824 ई. से प्रारंभ हुआ कानूनी अधिग्रहण का यह सफर 185 वर्ष का सफर पूरा कर चुका है । इस बीच सन् 1894 में जो भूमि अधिग्रहण कानून बना था उसे सन् 1984 के संशोधनों के जरिए और भी जनविरोधी बना दिया गया। इसी के साथ सबसे विचारणीय तथ्य यह है कि इन 185 वर्षों के सफर में इस बात की आवश्यकता न तो औपनिवेशिक शासकों ने समझी थी कि अधिग्रहण के साथ ही साथ पुनर्वास से संबंधित कानून भी बनाया जाए और न ही आज़ादी के बाद की सरकारों ने इस दिशा में कोई पहल की। पिछले दिनों स्तर पर अधिग्रहण और पुनर्वास संबंधी नए कानून को लोकसभा से पारित कराने का प्रयत्न भी किया गया था। जनआंदलोनों एवं संबंधित पक्षों का मानना था कि यह नया कानून औपनिवेशिक कानून से भी ज्यादा खतरनाक है। विकास और विस्थापन को भारतीय परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए एक अन्य तथ्य पर भी गौर करना आवश्यक है। सन् 1894 में जब वर्तमान भू-अधिग्रहण कानून लागू हुआ तब भारत की जनसंख्या 27.96 करोड़ (जनसंख्या वर्ष 1891) थी। साथ ही वर्तमान पाकिस्तान और बांग्लादेश भी भारत के ही अंग थे। आज हमारी आबादी 110 करोड़ है और आज़ादी के बाद भारत में

करीब 1.50 लाख वर्ग कि.मी. भूमि राज्य द्वारा अधिग्रहित की जा चुकी है, जो कि क्षेत्रफल में बांग्लादेश के बराबर बैठती है। ये अधिग्रहण बांध, कारख़ानों, रेल, हवाई जहाज़, औद्योगिक क्षेत्र, शहरी बसाहट, सुरक्षित वन, बाघ अभ्यारण्य, सड़क निर्माण, परमाणु एवं ताप विद्युतगृह, खेल के स्टेडियम से लेकर श्मशान बनाने तक के लिए किए गए हैं। एक मोटे अनुमान के अनुसार आज़ादी के बाद से करीब 10 करोड़ नागरिक इनकी वजह से विस्थापित हुए हैं। इन विस्थापितों में से कम से कम 45 प्रतिशत बच्चे हैं। जब देश में पुनर्वास को लेकर कोई कानून नहीं है तो अंदाजा लगाया जा सकता है कि हमारा देश अपने नागरिकों को लेकर कितना संवेदनशील है? विस्थापित परिवार के मुखिया के पुनर्वास को लेकर ही सरकारें चिंतित नहीं हैं तो ऐसे में विस्थापित बच्चों की स्थिति की सहज ही कल्पना की जा सकती है। आज हम 11वीं पंचवर्षीय योजना की मध्यावधि समीक्षा वर्ष में हैं। आज़ादी के बाद के वर्षों में बच्चों को लेकर अनेक योजनाएं बनाई गई। उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य व अन्य समस्याओं को लेकर बड़ी-बड़ी कार्य योजनाएं हमारे सामने आई हैं। वहीं दूसरी ओर योजना आयोग विकास की परियोजनाओं के निर्माण के समानांतर विकास से उजड़े समुदाय की किसी योजना को संबंधित विकास परियोजना के अंग के रूप में सम्मिलित करने के प्रति उत्सुक नहीं दिखता है। ये विरोधाभास सिर्फ सरकार नीति निर्धारकों में ही नहीं है। बल्कि गैर सरकारी संगठनों एवं संस्थाओं द्वारा प्रस्तावित नए भूमि अधिग्रहण एवं पुनर्वास बिल के मसौदे में भी बच्चों के लिए विद्यालय, खेल के मैदान से अधिक का प्रावधान नहीं किया गया है। नई पुनर्वास नीति किस तरह बच्चों और महिलाओं के लिए लाभकर हो इस नज़रिए का वैकल्पिक नियोजनकर्ताओं में भी अभाव नजर आता है।

वहीं भारत के संविधान में अनुच्छेद 39 में राज्य अनुसरणीय नीति तत्वों में से 39च (संविधान बयालीसवां संशोधन अधिनियम 1976 की धारा 7 द्वारा) के अनुसार, बालकों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर व सुविधाएं दी जाएं और बालकों और अल्प व्यय व्यक्तियों की शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाए। इन्हीं नीति निर्देशक तत्वों में राज्य को यह भी निर्देशित किया गया है कि पुरुष और स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोज़गार में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो। (अनुच्छेद 395) ग़ौरतलब है कि भारतीय संविधान अपनी उद्देशिका तक में व्यक्ति की गरिमा का जिक्र करता है। परंतु विस्थापित बच्चों की गरिमा और उनके विकास के लिए अनिवार्य तत्वों को लेकर किसी विशेष व्यवस्था का प्रावधान कहीं भी नजर नहीं आता। प्रत्येक योजना को उसकी आर्थिक उपयोगिता से तौला जाता है। इन सभी योजनाओं में कहीं भी यह दिखाई नहीं देता कि 'बच्चे' भी ध्यान देने योग्य हैं। भारत के संविधान के नवीनतम संशोधन (86वां) के अनुसार 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए शिक्षा को अनिवार्य बना दिया गया है। परंतु विस्थापन पीड़ित समुदाय की स्थितियों से जो कोई थोड़ा सा भी परिचित है वह अनिवार्य शिक्षा के प्रावधान की ज़मीनी हकीक़त को बहुत अच्छे से समझ सकता है। विस्थापन को प्रोत्साहित करती हमारी विकास नीति में जब हाशिए पर पड़े समाज की ही कोई खोज-खबर नहीं रखी गई है तो हाशिए पर पड़े बच्चों की ओर किसका ध्यान जाएगा? संविधान के अनुच्छेद 39 के दृष्टिगत भारत सरकार ने अगस्त 1974 में राष्ट्रीय बालनीति बनाई। इसकी प्रस्तावना में कहा गया है, राष्ट्र के बच्चे एक सर्वोच्च

महत्वपूर्ण संपत्ति हैं। उनकी देखभाल और चिंता करना हमारी ज़िम्मेदारी है। मानव संसाधन विकास के लिए हमारी राष्ट्रीय योजनाओं में बच्चों के कार्यक्रमों को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए ताकि हमारे बच्चे पुष्ट नागरिक बनें। हमारा लक्ष्य होना चाहिए कि बढ़त की अवधि में सभी बच्चों को विकास के समान अवसर मिलें क्योंकि इससे असानता कम करने और सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने का हमारा ज्यादा व्यापक उद्देश्य पूरा होगा। इसी के साथ बच्चों से संबंधित अनेक प्रावधान हमको इस बालनीति में मिलते हैं। परंतु रोज़गार की तलाश में आने या विकास योजनाओं की वजह से अपने घरों व इलाकों से विस्थापित समुदाय के बारे में पूरी नीति में एक भी शब्द नहीं है। इससे भारतीय नीति निर्धारकों की दूरदृष्टि और बच्चों के प्रति उनके नज़रिए की सत्यता भी उजागर हो जाती है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी 20 नवम्बर 1989 को बच्चों के अधिकार पर एक घोषणा-पत्र को स्वीकृति दी थी। भारत ने भी इस पर हस्ताक्षर किए हैं। यह घोषणा-पत्र बचपन पर विशेष ध्यान और सहायता की आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान दिलाता है। साथ ही इसमें यह भी कहा गया है कि बच्चों के संरक्षण और सुसंगत विकास के लिए प्रत्येक राष्ट्र की परम्पराओं और सांस्कृतिक मूल्यों का पूरा ध्यान रखते हुए प्रत्येक देश में, खासतौर से विकासशील देशों में, बच्चों के जीने की स्थितियों में व सुधार के काम में अंतरराष्ट्रीय सहयोग के महत्व को समझते हुए, निम्न बातों पर समहत हुए। इसके पश्चात पूरा घोषणा-पत्र हमारे सामने आता है। इस घोषणा-पत्र के अनुच्छेद – 22 के अनुसार समझौते में शामिल देश यह सुनिश्चित करने के लिए उचित प्रयास करेंगे कि अगर कोई बच्चा शरणार्थी का दर्जा दिए जाने की मांग करता है अथवा लागू होने वाले अंतरराष्ट्रीय अथवा कानूनी प्रक्रियाओं के अंतर्गत शरणार्थी माना गया है वह चाहे अपने माता-पिता अथवा किसी अन्य व्यक्ति के साथ हो अथवा न हो, उस बच्चे को उचित संरक्षण और समझौते तथा अन्य ऐसे अंतरराष्ट्रीय मानव अधिकार अथवा मानवीय प्रसंविदाओं जिसके कि ये देश सदस्य हैं के अनुसार मिलने वाले अधिकार दिलाने में मानवीय सहायता मिले।

विकास प्रेरित विस्थापन- विकास प्रेरित विस्थापन को हम निम्नांकित बिन्दुओं में आसानी से विभक्त कर समझ सकते हैं-

1. बांध और विस्थापन - बांधों को आधुनिक भारत में मंदिरों का नाम दिया गया। इन्हें विकास और खुशहली का सूचक माना गया। विकास योजनाओं के नीति-निर्माताओं को लगा कि मानसून के समय बारिस के पानी बड़े-बड़े जलाशयों में इकट्ठा कर, बाद के समय में सिंचाई और बिजली उत्पादन के लिए इस्तेमाल करना, गरीबी हटाने के लिए जादू का काम करेगा। इसी कारण 200 वर्षों तक लगातार अंग्रेजों द्वारा आर्थिक-सामाजिक रूप से शोषित हुये हमारे कृषि प्रधान ग्रामीण भारत में स्वतंत्रता के बाद बांध बनाने वाली विकास परियोजनाओं पर काम सीमित तकनीक प्रणाली से किया गया। जो कि कुछ ही वर्षों में तीव्रता से बड़े-बड़े बांध बनाने वाली परियोजनाओं में तब्दील हो गए और हमारे भारत देश में जल्दी से जल्दी गरीबी हटाने व विकास लाने के बांधों को आवश्यक मानकर बड़े–बड़े बांध बनाने का काम किया गया। 1947 से पहले जहां देश में जल संसाधन विकास कार्य के नाम पर ज़्यादातर छोटे मिट्टी के बांध बनाने बनाये जाते थे जो की नदियों का रास्ता बदलने वाले होते थे, जिनकी ऊंचाई 18-20 मीटर तक से ज्यादा

नही होता, जो की एक छोटी टंकिया जैसे थे, जिनके आस-पास के क्षेत्र में नहरों के जाल बिछाना होता था, वहाँ धीरे-धीरे 30-32 मीटर ऊंची बांधे बनने लगे। इस समय काल में केवल 30 बांध थे जिनकी ऊंचाई 30 मीटर से ज्यादा थी। 1947 में स्वतंत्रता के पश्चात भारत में बांध को विकास के लिए आवश्यक मानकर बड़े-बड़े बांध बनाने की प्रक्रिया आरंभ की गयी। ये बांध ज़्यादातर पहाड़ियों की तलहटी कृषि योग्य मैदानी भागों में या दो पहाड़ियो के मध्य स्थित जंगलों में बनाने गए। जिससे उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों का विस्थापन किया गया इस तर्ज पर कि इनसे हमारे भारत का तीव्रता से विकास होगा। हमारा भारत ग्रामीण भारत हैं जहां पर सभी ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि की जाती है, ये कृषि ही भारतीय जनजीवन कि आजीविका का प्रमुख साधन है। बांध के बनने से फसलों को भरपूर पानी मिलेगा, अच्छी पैदावार होगी, जिससे हमारे भारत में गरीबी जल्दी दूर हो जायेगी इत्यादि। इसी विकास के तर्ज पर लोगों का विस्थापन किया गया। आज ये बांध देश में विस्थापन के प्रमुख कारण माने जाते है। एन. सी. सक्सेना (उस समय के भारत सरकार में ग्रामीण विकास मंत्रालय के सचिव) के हाल के बयान अनुसार बड़े बांधो द्वारा विस्थापित लोगों कि संख्या 4 करोड़ है। एक खुली बैठक में उन्होंने यह भी कहा कि इनमें से अधिकांश का पुनर्वास नही हुआ है। विश्व बैंक (बड़े बांधो का हिमायती और पूंजी निवेशक) के एक कंर्जवेटिव अंदाजे के अनुसार हाल में बने हर एक बड़े बांधो से विस्थापित लोगों की संख्या 3.9 करोड़ बैठती है। वर्ल्ड कमीशन ऑन डेम के एक खंड 'इंडिया कंट्री स्टडी' के अनुसार विस्थापितों की संख्या 5-6 करोड़ तक हो सकती। लोक प्रशासन संस्थान के अनुमान पर अरुंधति राय (1999) ने बड़े बांधो से विस्थापित करोड़ लोगों का जिक्र किया है। वाल्टर फर्नादीस 2010 के अनुसार 1947 से 2000 के बीच में जल संसाधन परियोजनाओं से विस्थापित लोगों की संख्या 400 लाख है। सुरजीत भल्ला (2001) ने उनके आंकड़ो को यहा कहकर चुनौती दी की हर बड़े बांध से होने वाले वाले विस्थापितों का औसत 1360 है।

1990 के दशक में कई अध्ययनकर्ताओं ने माना कि हमारे भारत देश में विस्थापितों के सही आंकड़े बताएं जा सके, यह संभव नही है क्योंकि हमेशा परियोजना अधिकारी किसी भी परियोजना के समय प्रस्ताव में विस्थापितों की संख्या कम करके बताते हैं तथा युक्त परियोजना की उपयोगिता को बड़ा चड़ाकर का दिखाते हैं। ऐसा फंड देने वाले प्राधिकारणों को लागत और फायदें का अच्छा अनुपात दिखा कर परियोजना के लिए अनुमति हासिल करने के लिए किया जाता है। भल्ला तथा राय ने बांध एवं विस्थापन संबंधी आकड़े दावे के साथ रखे थे जिसे कई अध्ययनकर्ताओं ने अशुद्ध माना, क्योंकि इन सभी का मत रहा की इन्होंने सभी बांधो को एक ही श्रेणी में रख दिया था। जबकि हर बांध की ऊंचाई तथा डूब क्षेत्र अलग-अलग होती है। बांध 15 से 300 मीटर तक की ऊंचाई के हो सकते हैं। इस तरह उनके प्रभाव व ऊंचाई के मुताबित प्रमुख व मध्यम श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है क्योंकि बांध की श्रेणी के अनुसार विस्थापित लोगों की संख्या बदलती रहती है।

बांध संबंधी परियोजनाओं के बारे में स्वतंत्र अनुभवजन्य अनुसंधान से यह बात साबित हुई है की कैसे इन परियोजनाओं का नियोजन करते समय उनसे जुड़ी सामाजिक, मानवीय और पर्यावरण संबंधी कीमत को अनदेखा किया गया या उन्हें कम करके बताया गया। बड़े बांधों के ऐसे जिन पक्षों की उपेक्षा की गई इनमें से कुछ के परिणाम

मानवीय जीवन के लिए बेहद गंभीर हो सकते हैं। अधिकाश परियोजनाओं के नियोजन की शुरुवात विस्थापन एवं पुनर्वास के विभिन्न चरणों के दौरान यह अपेक्षा की जाती है कि जिन लोगों पर परियोजनाओं का विपरीत या बुरा असर पड़ रहा है या पड़ेगा उन्हें इस विस्थापन की सही समुचित जानकारी दी जाए, उनसे राय-सुमारी ली जाए ताकि वे अपने उजड़े जीवन को यथा संभव पुन: नए परिवेश में बसा सके। लेकिन हकीकत इससे दूर होती रही है। अध्ययनों से यह बात सामने आई हैं कि बांध, डूब से होने वाले विस्थापितों या प्रभावितों को सूचना कम ही दी गई है। हाल के वर्षो की परियोजनाओं को अपवाद में ले, क्योंकि हाल के परियोजनाओं में जन आक्रोश व आंदोलनों ने परियोजना में विस्थापित व डूब से प्रभावित सारे प्रभाव स्पष्ट करने पर प्रशासन को बाध्य किया है। लेकिन इन 2 दशको से ऊपर देखा जाए तो पता चलता हैं कि हमारे देश में बांध से विस्थापितों के जीविका क्षति, पुनर्वास, पुनरुस्थापना एवं मुआवजा आदि उपलब्ध कराए जाने से संबंधित राष्ट्रीय कानून का अभाव था।

ख. खनन परियोजना और विस्थापन- देश में कोयले का खनन बहुत ही आवश्यक है क्योंकि देश की दो तिहाई बिजली का उत्पादन होता है इस कोयले से ही होता है। लेकिन इस कोयला खनन ने देश की कुल आदिवासी आबादी के एक चौथाई हिस्से को विस्थापन के कगार पर खड़ा कर दिया। भारत में करीब 70 फीसदी कोयला मध्य और पूर्वी भारत के राज्यों में है। मध्य भारत के छत्तीसगढ़, झारखंड और ओडिशा में करीब 2.8 करोड़ आदिवासी रहते हैं जहां पर पिछले पांच दशकों के दौरान भारत में बड़ी औद्योगिक परियोजनाओं की वजह से बड़ी संख्या में विस्थापन हुआ है। वाल्टर फर्नांडिस 1997 के अनुसार आजादी बाद 1950 से 1990 तक में करीब 2.50 लाख लोग अपने मूल निवास क्षेत्र से विस्थापित हुआ है। चूंकि कोयले की खान ज़्यादातर जंगल की तलहटी या पहाड़ी क्षेत्रों में है इसलिए इस कोयले की खनन से जंगल व पहाड़ों की गोद में रहने वाले आदिवासी ही प्रभावित हुआ है ऐसा कहा जाना गलत नही होगा। ये आदिवासी छत्तीसगढ़, झारखंड और ओडिशा की कोल माइंस एरिया में निवास करने वालों की ही है। गुप्ता 2008 अपने कृति 'आदिवासी विकास से विस्थापन में झारखंड से कोयले के खदानों से विस्थापित आदिवासियों की विस्तृत रूप-रेखा रखते हैं। गुप्ता के अनुसार झारखंड में आज जो उस कोयले वाली भूमि के मालिक थे, आज कोयले चोर बन रहे हैं। ये बात रखकर वे झारखंड में विस्थापित आदिवासियों की दर्द को बया करते है। भारत डोंगरा अपने लेख 'हक की लड़ाई में बेहाल वनवासी' व 'पाठा: सूखे खेत प्यासे दिल(समाज के कमजोर तबके को संसाधनों से वंचित रखने व उनके शोषण पर एक रिपोर्ट, पाठा क्षेत्र के विशेष संदर्भ में' में खनन के नाम पर शोषित हो रहे आदिवासियों की स्थिति रखते हैं। आदिवासियों को उनके जंगल और जमीन से कोयला खनन के नाम पर बिना किसी पूर्व सूचना या बातचीत किये बेदखल कर दिया जाता रहा है। जिस संदर्भ में बुगुमिल तरमीनस्कि 2010 ने अपने लेख 'माइनिंग इंडयुस्ड डिसप्लेसमेंट एण्ड रेसेलमेंट : सोसल प्राब्लम एण्ड ह्यूमन राईट' बताया है कि कोयले के खनन के नाम पर आदिवासियों का विस्थापन एक मानव अधिकार हनन का मामला है। फर्नांडिस 1997 के अनुसार 'सरकार की नीतियों के कारण 1951 और 1995 की अवधि में झारखंड में 50 हजार एकड़ भूमि पर 15 लाख लोग विस्थापित हुए हैं, जिनमें 41.27 प्रतिशत आदिवासी हैं'। उमाशंकर मिश्रा अपने कृति 'हाशिये की वैचारिकी में' कोयले खनन से विस्थापित कोयला खदानों के लिए हजारों एकड़ जमीन पहले निजी मालिकों ने ली, फिर सरकार ने

अधिग्रहण कर ली कोयला के लिए तो सरकार ने एक नया कानून भी बनाया क़ोल बियरिंग एरिया एक्ट 1957, जिसके तहत वह अधिागृहीत- भूमि को जबरदस्ती भी कब्जे में ले सकती है। इस कानून के चलते आदिवासी किसानों पर कहर बरपाया गया। उसके बाद खदानों का राष्ट्रीयकरण हुआ, तो पुरानी खदानों के साथ-साथ नई खाली पड़ी जमीन भी कोयला कंपनी ने बिना नोटिस दिए, कब्जा करनी शुरू कर दी आज भारत सरकार की वृत्त विभाग लगातार कोयला उत्पादन को बढ़ाने में लगी है, सर की रिपोर्ट में कहा गया है कि केंद्र सरकार की योजना है कि कोयला उत्पादन को 2020 में दोगुना करना है जिस खनन से कितने आदिवासी अपने घर से बेघर होगा ये कह पाना मुमकीन नही है।

3. उद्योग एवं पावरप्लांट क्षेत्रों में विस्थापन:- यह विस्थापन आजादी बाद देश के प्रधानमंत्री पंडित नेहरू के हाथो से प्रारम्भ हुई है जब वे 'भारत एक खोज' (1946 : 64-65) में औद्योगिकीकरण में लगाने पर ज़ोर देते है। हलाकी वे इसे एक लोकतांत्रिक ढांचे के तहत ही किया जाए इस बात की जरूरत पर जोर दिये थे जिसमें साम्यवादी तानाशाही और पूंजीवादी शोषण के लिए कोई जगह नहीं होनी चाहिए कहा था। इसी विचारधारा ने उन्हें बड़े बांधों और उद्योगों को आधुनिक भारत के तीर्थ घोषित करने के लिए प्रेरित किया होगा तथा देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था के तहत कल कारखाने और उद्योग स्थापित किये गए। जिससे लोगों का विस्थापन शुरू हुआ जो अब तक नही रुकी है। देश में आज तेजी से मल्टीनेशनल उद्योग स्थापित किये जा रहे हैं साथ ही ऐसे उद्योगों के साथ विस्थापितों का भी विकास हो रहा है। आज सेज के माध्यम से उद्योग का विकास किया जा रहा है।

4. बाढ़ और भूस्खलन –विस्थापन की अगली श्रेणी उन विस्थापित लोगों की है जो प्राकृतिक या मानव निर्मित आपदाओं का शिकार होते हैं। इनमें भूकंप, बाढ़, सूखाए भू.स्खलन व औद्योगिक हादसे शामिल आते हैं। ऐसे हादसे प्राकृतिक घटनाये कहे जाते हैं लेकिन वस्तुतः यह मानवनिर्मित होते हैं। यानी ऐसे हादसे प्रकृति के साथ मानवीय दखल की वजह से उत्पन्न होने वाले पर्यावरणीय क्षति के नतीजे हों। ऐसे हादसों में हम जुलाई 2005 में मुंबई में आई बाढ़ व कोयना भूकंप जैसी घटनाओं को शामिल कर सकते हैं। बाढ़ की बढ़ती त्रासदीए सूखा और लगातार विकराल हो रहे भू-स्खलनए, मरुस्थलीकरण व पर्यावरणीय विनाश की वजह से विस्थापितों की संख्या बेतहाशा बढ़ती ही जा रही है (बंदोपाध्याय 2007)। उदाहरण के तौर पर सरकारी आंकड़ों में यह अनुमान लगाया गया है कि वर्ष 1953 की बाढ़ में कुल 524 लोगों की जान गई थी, जबकि इस दौरा में 244.8 लाख हेक्टेयर जमीन प्रभावित हुई थी। इसी तरह 1960 के दशक के मध्य में बाढ़ से मौतों की संख्या 1,000 का आंकड़ा पार कर गई थी। वर्ष 1985 में बाढ़ की वजह से देश की 590.9 लाख हैक्टेयर जमीन प्रभावित हुई थी, जबकि मौतों का आंकड़ा बढ़ कर 40,593 तक पहुंच गया था। 1998 में यह आंकड़ा 58,459 था जिसमें 687.2 लाख हेक्टेयर जमीन प्रभावित हुई, वहीं 2002 में 224.4 लाख हैक्टेयर जमीन डूबने के साथ मौत का आंकड़ा 26,247 का था (प्रसाद 2005)। भारत अपनी भौगोलिक और जलवायु संबंधी स्थितियों की विभिन्नता के कारण भीषण बाढ़ के प्रति सदा से अतिसंवेदनशील है । भारत के लगभग प्रदेश और केन्द्र शासित प्रदेश कमोवेश बाढ़ आपदा से किसी न किसी तरह ग्रस्त हैं। इनमें से अत्यधिक प्रभावित

राज्यों में असम, बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश और पश्चिम बंगाल, जम्मू एवं कश्मीर इत्यादि राज्य हैं। भारत में बाढ़ की घटनायें अधिकांशतः नदियों के तंत्र से संबंधित है। बिहार और उत्तरप्रदेश कोशी नदी की कोश प्रतिवर्ष झेलता है। बिहार और उत्तरप्रदेश में बाढ़ के कारण प्रति वर्ष हजारों घर बेघर हो जाते हैं। वेब रिपोर्ट के अनुसार हर साल बाढ़ की वजह से 10 लाख लोग अस्थायी तौर पर विस्थापित होते हैं। बाढ़ में विस्थापन सूखे, भू.स्खलन तथा मरुस्थलीकरण के प्रभावितों की संख्या में कहीं ज्यादा होती है। इसी तरह से देश में भूकंप से हजारों लोग विस्थापित होते हैं, हाँ इनकी संख्या बाढ़ विस्थापितों की तुलना में कम होती है।भूकंप प्रभावित विस्थापन को हम उदाहरण के तौर पर 2001 में गुजरात के भूकंप और 2005 में कश्मीर में आए भूकंप से स्पष्ट समझ सकते है। उपरोक्त भूकंप में 20-30000 लोगों की जानें गईं तथा देश के हर राज्य में 200,000 की संख्या में लोग विस्थापित हुए थे । इसी तरह 2004 की सुनामी में 300,000 लोग मारे गए और 500,000 लोग अपने घरों से बेघर हुये हैं। दास '2005' ऐसे विस्थापितों के संदर्भ में कहते है की बीते कुछ वर्षों में एसी विस्थापन की घटनाएँ नियमित सी हो रही है। नार्वेजियन रिफ्यूजी काउंसिल और इंटरनल डिस्प्लेस्मेंट मॉनिटरिंग सेंटर द्वारा प्रस्तुत ग्लोबल एस्टीमेटस् 2014 : पीपल डिस्प्लेस्ड बाय डिजास्टर्स नामक रिपोर्ट के अनुसार : बीते छह साल की अवधि में प्राकृतिक आपदा के कारण विस्थापित होने वाले लोगों की सर्वाधिक संख्या वाले देशों के नाम हैं- चीन, भारत, फिलीपिन्स, पाकिस्तान, बांग्लादेश , नाइजीरिया और अमेरिका। प्राकृतिक आपदा के कारण होने वाले विस्थापन का दंश अमीर देश भी झेल रहे हैं और गरीब देश भी हालांकि विकासशील देशों में प्राकृतिक आपदा के कारण सर्वाधिक विस्थापन(85 प्रतिशत) होता है। पिछले साल की तरह प्राकृतिक आपदा से विस्थापित होने वाले लोगों की संख्या इस बार भी एशिया में सबसे ज्यादा(वैश्विक संख्या का 87.1 प्रतिशत) थी। 'वैश्विक अनुमान 2014' नामक इस रिपोर्ट में कहा गया कि 2013 में भूकंप या जलवायु की वजह से आयी आपदाओं से दुनिया भर में 2.2 करोड़ लोग विस्थापित हुए. जो कि पिछले साल संघर्षों की वजह से विस्थापित हुए लोगों की संख्या का करीब तीन गुना है। साल 2013 में भारत में 10 लाख 4 हजार लोग बाढ़ के कारण विस्थापित हुए जबकि चक्रवात फेलिन के कारण विस्थापित होने वाले लोगों की संख्या भी 10 लाख के बराबर है। प्राकृतिक आपदा के कारण विस्थापित होने वाले लोगों की संख्या के लिहाज से विश्व में भारत का स्थान तीसरा है। संयुक्त राष्ट्र के एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में साल 2013 में प्राकृतिक आपदाओं के कारण विस्थाआपित हुए लागों की संख्याि करीब 21.40 है । संयुक्ते राष्ट्र से जारी एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में 2013 में प्राकृतिक आपदाओं के कारण लगभग 21.40 लाख लोग विस्थांपित हुए, विस्थापितों की संख्या के मामले में फिलीपीन्स और चीन के बाद भारत तीसरे स्थान पर था। 2013 में के अक्तूबर माह में ही आए चक्रवात 'फैलिन' ने पूर्वी तटीय इलाकों में बड़े पैमाने पर तबाही मचाई थी जिससे लाखों लोगों को विस्थापित होना पडा था। यह चक्रवात भारत में पिछले 14 वर्षों में आया सबसे भीषण चक्रवात था । पिछले 14 सालों में सबसे ख़तरनाक माना जाने वाला यह फैलिन चक्रवात मछलीपटनम से 250 किलोमीटर दूर दक्षिणपूर्व में केंद्रित था और पश्चिमोत्तर की ओर बढ़ रहा था। आंध्र प्रदेश के इतिहास में यह सबसे विनाशकारी तूफ़ान 1977 में कृष्णा ज़िले में आया था जिसमें 10 हज़ार से ज़्यादा लोगों की मौत हो गई थी।

5. सेज क्षेत्र विस्तार और विस्थापन- पिछले कुछ वर्षो के दौरान विशेष कर आर्थिक क्षेत्रों (स्पेशल इकोनोमिक जोन्स- एस ई -ज़ेड) का सृजन करने के लिए जबरन भूमि का अधिग्रहण सरकार द्वारा करने के खिलाफ देश में चारों तरफ व्यापक प्रतिवाद और हिंसक संघर्ष भी हुये हैं। विशेष आर्थिक क्षेत्र अधिनियम 2005 के अंतर्गत 'एस ई –ज़ेड' (सेज) को कायम किए जा रहे हैं। नौकरियां पैदा करने, निवेशों को आकर्षित करने और देश में अभूतपूर्व आर्थिक वृद्धि की राह प्रशस्त करने के वादे पर निर्मित इस मॉडल ने देश में किसानों, मछुवारों को विस्थापित करने की दिशा को गति प्रदान की है। संवृद्धिकारी विशेष क्षेत्रों का सृजन करने वाले इस कानून का ज्यादा से ज्यादा उपयोग सरकारों ने ज़मीनों का अधिग्रहण करके निजी और सरकारी विकासकर्ताओं को लीज़ पर देने और बेचने का अभियान मात्र किया है। जबकि इस अधिनियम के शुरुवात में वाणिज्य मंत्रालय का दावा था की इसमें कृषि भूमि नहीं ली जाएगी और इससे से एक भी किसान को विस्थापित नहीं होना होगा। लेकिन ये वादे कोरी झूठ साबित हुई है। अब तक सेज के लिए 134000 हेक्टेयर जमीन का अधिग्रहण हुआ है। जिनका परिणाम सारे देश में किसानों के समूह द्वारा ज़ोरदार प्रतिवाद हो रहा है । आज चारों तरफ किसानों, मछुवारों तथा जन-आंदोलनों ने सेज परियोजना विरोधी बहुत सारी चिंताएं जाहिर की, कि सेज परियोजना से बड़े पैमाने पर लोग जबरन विस्थापित कर दिये जाएंगे, स्थानीय लोगों के लिए रोजगार के अवसर अनिश्चित और नाकाफ़ी होंगे, प्राकृतिक संसाधनों और पर्यावरण का भरी पैमाने प अनियंत्रित दोहन होगा, कोई सार्वजनिक विचार-विमर्श नहीं होगा। ऐसे क्षेत्रों के लिए स्थान निर्धारित करने से लेकर परियोजना चालू करने के लिए मंजूरी तक पर कहीं कोई पारदर्शिता नहीं होगा। इससे आम लोगों कि आजीविकाए छिन जायेगी तथा ऐसे लोग भारी मुश्किलों में पड़ जायेंगे। जो सच में बहुत ही चिंता का विषय है।

6. पर्यटन विकास और विस्थापन -आम धारणा के विपरीत, पर्यटन से भी लोगों का विस्थापन होता है तो हो सकता है कि ये विस्थापन खनन, बांधों और औद्योगिक परियोजनाओं से लोगों का जितना भौतिक विस्थापन होता है, उतना पर्यटन से संबन्धित परियोजनाओं से नहीं होता है लेकिन आजीविकाओं, संसाधनों कि उपलब्धता, समुदाय के निर्णय लेने के अधिकारों और लोगों के सामाजिक-सांस्कृतिक लोकाचारों पर उनका प्रभाव उनका जितना प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है वह अन्य किसी भी प्रकार के जबरन लादी गयी विकास परियोजनों के प्रभाव से कम नहीं होते हैं। वन क्षेत्रों, सागर तटों, राष्ट्रीय उद्यानों एवं आश्रयणियों में सैरगाहों और शहरों में कुकुरमुत्तों की तरह पनपते होटल-संकुलों के विक्षित होने से बड़ी संख्या में वनों में रहने वाले आदिवासियों, सागर तटीय क्षेत्रों के मछुवारों तथा शहर के स्लम में रहने वाले गरीबों का विस्थापन होता है। और इस तरह के विस्थापन में कोई सरकारी पुनर्स्थापना तथा पुनर्वास की योजना नहीं बनाई जाती है क्योंकि इस तरह के विस्थापन में परिवारों कि संख्या कम होती हैं।

विस्थापन के आकड़े- विस्थापित तथा पुनवर्सित किए लोगों की संख्या के आंकड़ों का अभाव यह दर्शाता है कि सामाजिक परिप्रेक्ष्य का हमारा नजरिया कितना कमजोर है। इस कमी की वजह से डीपी लोगों की संख्या को लेकर विवाद की स्थिति बन गई है। उदाहरण के तौर पर, अरुंधती राय (1999) ने बड़े बांधों से विस्थापित 5.6 करोड़ लोगों का जिक्र किया है। यह आंकड़ा लोक प्रशासन संस्थान के अनुमान पर आधारित है। सुरजीत भल्ला (2001) उनके इस

आंकड़े को यह कहकर चुनौती दी कि हर बड़े बांध से होने वाले डीपी का औसत 1360 है। दोनों ही तथ्य अशुद्ध आंकड़ों के आधार पर कहे गए थे। उन्होंने सभी बड़े बांधों को एक ही श्रेणी में रख दिया था। लेकिन बांधों की ऊंचाई तथा डूब क्षेत्र अलग-अलग होती हैं। बड़े बांध 15 मीटर से 300 मीटर तक की ऊंचाई के हो सकते हैं। इस तरह उन्हें उनके प्रभाव व ऊंचाई के मुताबिक प्रमुख व मध्यम श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। उनके डीपी/पीएपी की संख्या भी तदनुसार बदलती रहती है, जैसा कि निम्न अध्ययनों में आया भी है, आंध्रप्रदेश में (फर्नांडीज 2001), गोवा (फर्नांडीज एवं नाइक 2001), झारखंड (एकता एवं आसिफ 2000), केरल (मुरिकन 2003), ओडिशा (फर्नांडीज तथा आसिफ 1997) तथा गुजरात (लोबो एवं कुमार 2009) के मुताबिक देश के 4200 बड़े बांधों में से 300 प्रमुख हैं। अन्य मध्यम श्रेणी के हैं। एक बड़े या प्रमुख बांध से 25,000 से 250,000 तक लोग विस्थापित होते हैं। एक मध्यम श्रेणी के बांध से 400 से 8,000 तक लोग प्रभावित होते हैं। जाहिर है कि भल्ला का औसत मध्यम श्रेणी तक के बांधों की तुलना में बेहद कम है जबकि अरुंधती राय का अनुमान से कहीं ज्यादा। 1990 की शुरुआत में कुछ शोधकर्ताओं ने भरोसेमंद आंकड़ों के अभाव को दूर करने की कवायद शुरू की। मौजूदा अध्ययनों से निकाले गए द्वितीयक आंकड़ों के आधार पर यह आंकड़ा 2 करोड़ 13 लाख डीपी/पीएपी तक (150-1990 फर्नांडीज 1998: 231) पहुंचा। इस अध्ययन से साफ पता चलता है कि अधिकांश आधिकारिक आंकड़े अनुमान से कम रखे गए हैं। उदाहरण के तौर पर हीराकुंड से विस्थापित लोगों का आधिकारिक आंकड़ा 110,000 (ओडिशा सरकार 1968) था, लेकिन शोधकर्ताओं ने यह आंकड़ा 180,000 (पटनायक, दास एवं मिश्रा 1987)। इसी तरह त्रिपुरा में डुंबर बांध से विस्थापित परिवारों की आधिकारिक संख्या 2,583 रखी गई जबकि वास्तव में 9,000 परिवार या 40,000 व्यक्ति थे (भौमिक 2003: 84)। असम में नलबाड़ी जिले के पगलाडिया बांध के आधिकारिक आंकड़ों के मुताबिक विस्थापित परिवारों की संख्या 3,271 थी, जबकि जमीनी आंकड़ों के मुताबिक प्रभावितों की यह संख्या 20,000 परिवार (भराली 2004) थी। बीते 15 वर्षों में विस्थापन की समझ बढ़ी, इस पर अध्ययन भी किए गए हैं; इसी वजह से ओडीशा व आंध्रप्रदेश में अध्ययन के दौरान जहां बहुत ही कम श्रेणियां थीं, वहीं गोवा के अध्ययन में सबसे ज्यादा(स्रोत: फर्नांडीज 2008एः 93)

कुछ शोधकर्ताओं ने इस द्वितीयक आंकड़ों के आधार पर अनुमानित संख्या का अभिलेखीय तथा जमीनी आधार पर हुए अध्ययनों से मिले आंकड़ों से तुलनात्मक अध्ययन किया तथा 1951-1995 तक के सभी विस्थापनों का आंकड़ा निकाला। ओड़ीशा (फर्नांडीज तथा आसिफ 1997), झारखंड (एक्का तथा आसिफ 2000), आंध्रप्रदेश (फर्नांडीस 2001), केरल (मुरिक्कन 2003), 1965-2001 तक गोवा (फर्नांडीज तथा नाइक 2001), पश्चिम बंगाल में 1947-2000 तक (फर्नांडीज 2006), असम (फर्नांडीज तथा भराली 2006), मेघालय, मिजोरम तथा त्रिपुरा (फर्नांडीज तथा भराली 2010) तथा गुजरात में 1947-2004 (लोबो तथा कुमार 2009)। ये तथा अभी भी जारी ऐसे ही अन्य अध्ययनों से पता चलता है कि विकास परियोजनाओं में 1951 तथा 95 तक आंध्रप्रदेश, ओड़ीशा तथा झारखंड में हर परियोजना में 10 लाख हैक्टेयर जमीन ली गई, पश्चिम बंगाल में 20 लाख हैक्टेयर जमीन, असम में 567,000 हैक्टेयर, गुजरात में 20 लाख हैक्टेयर से ज्यादा, गोवा में कुल जमीन का 5 फीसदी तथा केरल में कुल

जमीन का 3.5 फीसदी जमीन विकास परियोजनाओं की भेंट चढ़ गई। अध्ययनों से यह भी संकेत मिले कि विकास परियोजनाओं में वर्ष 2000 तक कुल ढाई करोड़ हैक्टेयर जमीन ली गई। इसका 60 फीसदी हिस्सा निजी तथा जबकि शेष सार्वजनिक जमीन थी (सारणी1)।अधिकांश बांधों ने जो जमीन डुबोई उसका दो तिहाई हिस्सा सार्वजनिक क्षेत्र का था। इससे पता चलता है कि आखिर डीपी/पीएपी की संख्या क्यों इतनी कम अनुमानित है तथा क्यों हर 10 डीपी में 6 पीएपी होते हैं। उदाहरण के तौर पर हीराकुंड अधिकारियों ने सार्वजनिक जमीन पर निर्भर लोगों की संख्या गिनी ही नहीं। जबकि शोधकर्ताओं ने उन्हें शामिल कर यह संख्या 180,000 तक पहुंचा दी। आंधप्रदेश के नागार्जुनसागर बांध में डूबी 70,000 एकड़ जमीन का दो तिहाई हिस्सा सार्वजनिक क्षेत्र का था। इस वजह से यह दावा किया गया कि बांध से केवल 30,000 लोग ही विस्थापित हुए, क्योंकि इनमें सार्वजनिक क्षेत्र के प्रभावितों को गिना ही नहीं गया (फर्नांडीज 2001 : 61-63)।

इन अध्ययनों के आधार पर पहले के आंकड़ों को सुधारा गया। ओड़ीशा में 16 लाख डीपी/पीएपी की पहचान की गई जबकि आंधप्रदेश में 32 लाख की। इनमें से 80 प्रतिशत परियोजनाएं 1951-95 तक की थीं। झारखंड तथा केरल में करीब 60 प्रतिशत परियोजनाओं का अध्ययन किया गया। गुजरात में लगभग सभी परियोजनाओं के अध्ययन से यह संख्या 43 लाख डीपी/पीएपी तक पहुंची, वहीं पश्चिम बंगाल में ऐसे लोगों की संख्या 70 लाख रही। असम में यह आंकड़ा 19 लाख था जबकि गोवा में 60,000 (सारणी 2)। पुराने आंकड़ों को अपडेट किया जाए तो ओड़ीशा तथा झारखंड में 10 से 25 लाख तक डीपी/पीएपी होंगे। आंध्रप्रदेश में 40 लाख, केरल में 10 लाख तथा गोवा में यह संख्या एक लाख होगी। इस अध्ययन में छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र तथा मध्यप्रदेश सरीखे उच्च विस्थापन दरों वाले राज्यों को शामिल नहीं किया गया है। इन आंकड़ों के आधार पर तथा अभी भी जारी अध्ययनों के आधार पर मोटे तौर पर 1947-2000 तक कुल डीपी/पीएपी लोगों की संख्या 6 करोड़ तक पहुंचती है (फर्नांडीज 2008 : 93)।

विकास, विस्थापन और पुनर्वास का विकल्प - प्रश्न उठता है कि विस्थापन करते समय उनके जीविकोपार्जन के विकल्प की तलाश क्यों नहीं की जाती? समतामूलक समाज के नाम पर किए जा रहे तथाकथित विकास के मॉडल में आखिर क्या खामी रह जाती है कि विस्थापित लोग बद से बदतर जिंदगी गुजारने को विवश हो जाते हैं? क्या यह सच नहीं है कि आज से नैसर्गिक संसाधनों को लूटने की होड़ लगी है, 'प्रभु देश' येन-केन-प्रकारेण हमारे संसाधनों पर कब्जा करने की साजिश में लगे हैं। आज विस्थापन ऐसे राज्यों (झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा आदि) से हो रहे हैं, जहाँ कि नैसर्गिक संसाधन बहुतायत में है। उड़ीशा, छत्तीसगढ़ और झारखंड में देश के कोयला-भंडार का 70 प्रतिशत हिस्सा मौजूद है। देश के लौह-अयस्क का 80% हिस्सा, बॉक्साइट का 60% तथा क्रोमाइट का तकरीबन 100% हिस्सा इन्हीं तीन राज्यों में है। अरुंधती रॉय आउटलुक में मिस्टर चिदंबरम वार लेख में लिखती हैं, झारखंड और उड़ीसा आदि की पहाड़ियों में जितनी बाक्साइट भरी पड़ी है, उसकी कीमत आँकी जाए तो उसमें 12 शून्य आता है। वह पूछती हैं, इसके क्या मायने हैं, कहती हैं, झारखंड में पिछले दिनों मधु कोड़ा की अवैध 4,500 करोड़ की संपत्ति का मामला काफी गरमाया था। झारखंड खनिजों का भंडार है। वहाँ भी आदिवासी हैं। वहाँ भी सरकार 'विकास' कर रही है और

माओवादी तो वहाँ हैं ही। जाहिर है, जो पैसे मधु कोड़ा एंड कंपनी ने कमाए, वे खनिज और कोयले से ही आए हैं। कंपनियों की जहाँ तक बात है, आर्सेलर मित्तल-जिंदल से लेकर कौन है,जो झारखंड में मौजूद नहीं। यानी, खनिज, आदिवासी, माओवाद,धन, विकास, जंगल, जमीन, निजी पूँजी, आतंरिक सुरक्षा - ये तमाम शब्द दरअसल एक ही संदर्भ से ताल्लुक रखते हैं, जो एक ही किस्म के भौगोलिक परिक्षेत्रों पर लागू होते हैं। आजादी के इतने वर्षों के बाद भी लोककल्याणकारी राज्य में आज भी औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा कुटिल नीति के तहत देश में विकास के नाम पर लोगों को उनकी आजीविका से वंचित किया जा रहा है, वे हाशिए पर धकेले जा रहे हैं और उनकी विपन्नता बढ़ती ही जा रही है। यह मुद्दा पश्चिम बंगाल के सिंगूर व नंदीग्राम, उड़ीशा के नियामगिरि और काशीपुर, उत्तर प्रदेश व हरियाणा में हाइवे के खिलाफ जनांदोलन, मैंगलोर व नवी मुंबई में सेज के खिलाफ आंदोलन व ऐसे ही अन्य जन संघर्षों के चलते राष्ट्रीय स्तर पर उभरा है। ऐसे आंदोलनों ने कानूनों, निर्णय प्रक्रिया व ऐसी ही अन्य गलत प्रक्रियाओं पर सवाल खड़े किए हैं।

मध्य प्रदेश के हरसूद के विस्थापन को मीडिया ने चिन्ता व जिम्मेदारी से उजागर किया था जिससे पता चलता है कि सत्ता, नौकरशाह और परिस्थिति के फायदे से उतपन्न दलाल किस तरह जनता को गुमराह कर सत्ता के निर्णयों का मूक अनुकर्ता बनाने की कवायद में लगे रहते हैं| सिर्फ मनुष्य के विकास और उसकी सुविधा के इंतजाम करना दरअसल एकांगी विचार और मनुष्यता विरोधी मुहिम है| जानवर, पेड़-पौधे, उर्वर भूमि को नजरंदाज कर आप तथाकथित विकास की नाँव कब तक चला पाएँगे? बाँध की ऊँचाई और अन्य विकासजन्य वजहों के लिए विस्थापन प्रक्रिया की जल्दबाजी से किसी का विकास हो न हो, विस्थापन का जरूर विकास हो रहा है| ऐसे में हमें सोचने की जरूरत है कि क्या तथाकथित विकास विस्थापन के बगैर नहीं हो सकता? क्या बड़े उद्योगों से ही विकास और खुशहाली का सूर्योदय होगा? और क्या उन वनवासियों और किसानों की जमीन पर ही विकास का पहिया दौड़ेगा, जो सदियों से संपूर्ण आजीविका के साधन रहे हैं? इन सवालों का जवाब जब तक राज्य और केंद्र सरकार के पास नहीं होगा तब तक विस्थापन और तथाकथित विकास, एक-दूसरे के विरोधी बने रहेंगे।

पुनर्वास - इन अध्ययनों से यह भी पता चलता है कि विस्थापितों में से बहुत कम लोगों को ही कहीं और बसाया जा सका है। ओड़ीशा में उसके कुल डीपी में से 35.27 फीसदी ही फिर से बस पाए, आंध्रप्रदेश में पुनर्वसित लोगों का आंकड़ा 28.82 फीसदी रहा तो गोवा में यह 40.78 फीसदी तक पहुंचा। वहीं केरल में महज 13.68 फीसदी लोगों को ही कहीं और रहना नसीब हो पाया, पश्चिम बंगाल में 11.18 तथा गुजरात में 23.82 फीसदी आबादी पुनर्वसित हो पाई (सारणी 1.3)। जिन राज्यों का अध्ययन किया गया है उनमें कुल मिलाकर महज 17.94 प्रतिशत आबादी का ही पुनर्वसन हो पाया है। हम यहां कहीं और बसने (री-सेटल) की बात कर रहे हैं पुनर्वास (रीहैबिलिटेशन) की नहीं। ये दोनों प्रक्रियाएं बिल्कुल जुदा है। कहीं और बसने का अर्थ है एक बार भौतिक तौर कहीं और चले जाना, किसी तरह की मदद मिले या मिले बगैर। इनकी जरूरत केवल विस्थापितों को होती है। वहीं पुनर्वास का मतलब है लोगों के आर्थिक संसाधनों, सांस्कृतिक परंपराओं, सामाजिक ढांचों और सामुदायिक मदद के समूचे ढांचे के साथ कहीं और

बस जाना। यानी संक्षेप में कहें तो आजीविका का पुनर्वास। इसकी जरूरत पीएपी को भी होती है। लेकिन यह हो नहीं पाया। अधिकांश डीपी को भौतिक तौर पर कहीं और बसाने के अलावा अन्य किसी भी तरह की सुविधाएं नहीं दी गईं। उदाहरण के तौर पर, पश्चिम बंगाल का मयूराक्षी बांध तथा गुजरात के उकाई बांध से बड़ी संख्या में लोग विस्थापित हुए लेकिन इन बांधों से सिंचाई नहीं होती। इसी तरह आंध्रप्रदेश के नागार्जुन सागर के विस्थापितों को 40 साल के बाद जाकर सिंचाई की सुविधा मिल पाई। ऐसे में निश्चित तौर पर वे अपनी जमीन का अधिकतम फायदा उठाने में नाकाम रहे। चूंकि पुनर्बसाहट की गुणवत्ता ही काफी लचर रही इसलिए इसका पुनर्वास की ओर कोई जोर नहीं रहा।

पुनर्बसाहट - कई अधिकारी पुनर्बसाहट की प्रक्रिया को यह बताकर उचित ठहराते हैं कि परियोजना के तहत विस्थापितों को जो मुआवजा दिया गया है दरअसल वह पुनर्वास है। वास्तविकता यह है कि मुआवजा केवल पट्टे की जमीन के बदले में दिया गया और अधिकांश मामलों में यह उसके लिए भी कम ही था। यह उस क्षेत्र में बीते तीन साल के बाजार मूल्य के मुताबिक तय किया जाना था। यह सभी जानते हैं कि रजिस्ट्रेशन के दौरान जमीन के वास्तविक मूल्य के 40 फीसदी से अधिक कीमत कोई नहीं चुकाता। दूसरी बात यह कि ग्रामीण क्षेत्रों को आमतौर पर और आदिवासी क्षेत्रों को खासतौर पर 'पिछड़ा' माना जाता है। ऐसे में जो भी थोड़ी बहुत जमीन उनके हिस्से में है उसकी कीमत बेहद कम आंकी जाती है। तीसरी बात यह कि सार्वजनिक साझा संसाधन, जिनमें से अधिकांश आदिवासी क्षेत्रों में होते हैं का कोई मुआवजा नहीं दिया जाता। उदाहरण के तौर पर, 1980 के दशक के बीच में, नेशनल एल्युमिनियम कारपोरेशन (नालको) ने ओड़ीशा के अंगुल जिले में एक यूनिट बनाई तथा दूसरी कोरापुट के आदिवासी क्षेत्र में बनाई। अंगुल में अधिग्रहीत की गई जमीन का 18 प्रतिशत हिस्सा सार्वजनिक था, इसमें सड़कें, तालाब व स्कूलों आदि को विस्थापित किया गया। वहीं कोरापुट में 58 प्रतिशत अधिग्रहीत जमीन सार्वजनिक साझा संसाधन की थी जिन पर आदिवासियों की आजीविका निर्भर थी। न तो यह बदली गई ना ही इसका मुआवजा दिया गया। उन्हें प्रति एकड़ औसतन 2,700 रुपए की दर से मुआवजा बांट दिया गया, जबकि अंगुल में पट्टाधारियों को 25,000 हजार रुपए प्रति एकड़ का मुआवजा मिला (फर्नांडीज तथा राज 1992: 92)। हमें पुनर्वास नीति को इसी संदर्भ में समझने की जरूरत है। 1960 में कुछ प्रशासकों ने महसूस किया कि भूमि अधिग्रहण समाज में बढ़ती असमानता की एक बड़ी वजह है, और इसीलिए इसकी प्रक्रिया में बदलाव लाया जाना चाहिए। तब खाद्य, कृषि, सहकारिता तथा सामुदायिक विकास मंत्रालय जो बाद में ग्रामीण विकास मंत्रालय बना, की ओर से एक 17 सदस्यीय विषेशज्ञों का समूह बनाया गया। इसे भूमि अधिग्रहण से संबंधित प्रक्रिया तथा कानूनों के अध्ययन का काम सौंपा गया। वर्ष 1967 में सौंपी गई अपनी रिपोर्ट में इस समूह ने कई प्रमुख बदलाव संबंध सुझाव दिए (गुहा, 2007)। इसी वर्ष टीएन सिंह फार्मूला के तहत सार्वजनिक क्षेत्र की खदानों तथा उद्योगों से होने वाले विस्थापितों के हर परिवार को एक नौकरी दिए जाने का सुझाव दिया गया। वर्ष 2004 में घोषित पहली पुनर्वास नीति के पहले तक यही एकमात्र केंद्रीय सुझाव था जो पुनर्वास की झलक देता था। अपनी कमियों के बावजूद यह सही दिशा में उठाया गया एक कदम था। हालांकि मशीनीकरण के साथ-साथ अकुशल नौकरियों के अवसर घटने लगे और स्कोप (स्टैंडिंग कमिटी ऑफ पब्लिक एंटरप्राइजेस) ने इस फार्मूले को 1986 में खारिज कर दिया (एमआरडी 1993)।

इसके 18 वर्ष बाद गृह मंत्रालय के कल्याण विभाग ने आदिवासी पुनर्वास के अध्ययन के लिए एक समिति का गठन किया। इसकी जरूरत इसलिए पड़ी क्योंकि अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग ने पाया कि 1951-1980 के बीच हुए डीपी/पीएपी में से 40 फीसदी आबादी आदिवासियों की थी। इस समिति ने पुनर्वास नीति की जरूरत को स्वीकार करते हुए सुझाव दिया कि यह सभी डीपी पर लागू होनी चाहिए ना कि महज आदिवासियों पर। साथ ही यह भी कहा कि नीति का क्रियान्वयन कानूनी बाध्यताओं के साथ होना चाहिए (भारत सरकार 1985)। ग्रामीण विकास मंत्रालय ने आठ साल इसके लिए इंतजार किया, जब तक विश्व बैंक ने सरदार सरोवर परियोजना से अपने हाथ पीछे नहीं खींच लिए। इसके बाद कहीं जाकर नीति का एक प्रारूप तैयार किया गया (एमआरडी 1993), तथा इसको 1994 में संशोधित किया गया (एमआरडी 1994)। 1993 के प्रारूप में यह स्वीकारा गया था कि हजारों, लाखों डीपी के साथ अन्याय किया गया है, और उनका पुनर्वास नहीं हो पाया है। इसने यह भी जिक्र किया कि स्कोप (स्टैंडिंग कमिटी ऑफ पब्लिक एंटरप्राइजेस) की ओर से टीएन सिंह फार्मूले को खारिज कर दिया गया, जबकि न्याय की मांग यह है कि आदिवासियों और दलितों की विशेष जरूरतों को देखते हुए एक खास नीति बनाई जानी चाहिए। इस वजह से इस मुद्दे पर मंत्रालय की चिंता उनके प्रति नजर आई जो विकास की कीमत चुकाते हैं। वर्ष 1994 में पुनर्वास नीति के प्रारूप में 16 मंत्रालयों और विभागों की प्रतिक्रिया दर्ज थी, जो वास्तव में सरकार का नजरिया दर्शाती थी। इसने पहले की असफलताओं के सभी संदर्भ, यहां तक कि स्कोप की सिफ़ारिश को भी भुला दिया। बल्कि इसकी शुरुआत ही यह कहते हुए हुई कि नई आर्थिक नीति के लागू होने के बाद भारतीय व विदेशी निजी निवेशकों द्वारा और ज्यादा जमीनों का अधिग्रहण किया जाएगा। इसकी वजह से पुनर्वास नीति की जरूरत और शिद्दत से महसूस हुई (एमआरडी 1994: 1.1-1.4)। हालांकि इसके पीछे सारा जोर उदारीकरण का था ना कि डीपी/पीएपी की भलाई का। एक हजार से भी ज्यादा सामाजिक कार्यकर्ताओं के समूह, शोधकर्ताओं, कानूनी कार्यकर्ताओं तथा हजारों डीपी/पीएपी ने पुनर्वास नीति के प्रारूप का विश्लेषण किया और नीति का एक विकल्प तैयार कर दिया। यह प्रक्रिया एक साल से भी ज्यादा समय तक चली और समन्वय ने कुछ ऐसे सिद्धांत विकसित किए जिनके आधार पर नीति तथा कानूनों को बनाया जाना चाहिए था। यह वैकल्पिक नीति सचिव, ग्रामीण विकास, भारत सरकार को अक्टूबर 1995 की शुरुआत में ही दे दी गई। (फरवरी 1997 तक की सभी नीतियों, कानूनों, प्रारूपों तथा आलोचनाओं को देखें फर्नांडीज एवं परांजपे 1997)। तीन साल बाद ग्रामीण क्षेत्र व रोजगार से जुड़े मंत्रालय ने एक और प्रारूप (एनपीआरआर 1997) विकसित किया, इसमें एलएक्यू में कई संशोधन किए गए थे (एलएबी 1998)। नागरिक समूहों के समन्वय ने विश्लेषण के बाद पाया कि प्रारूप नीति का आधा हिस्सा तो स्वीकार करने योग्य है लेकिन यह भी पाया कि उसके सभी सिद्धांत खारिज कर दिए गए हैं। इस तरह एक बार फिर उन्होंने मंत्रालय के साथ विभिन्न विकल्पों पर चर्चा का दौर शुरू कर दिया। ग्रामीण विकास मंत्रालय की ओर से जनवरी 1999 में बुलाई गई एक बैठक में इस बात पर अलिखित सहमति बन गई कि नागरिक समूहों के परामर्श से एक नीति बनाई जाएगी तथा कानून का प्रारूप भी विकसित होगा जिसमें उक्त सिद्धांतों को समाहित किया जाएगा।

हालांकि वर्ष 2003 में एक नीति बनाई गई और 2004 में बिना किसी सलाह-मशवरे के लागू कर दी गई। डीपी/पीएपी के अध्ययन में शामिल ज्यादातर लोगों का मानना था कि यह नीति बेहद कमजोर है (फर्नांडीज 2004)। इसलिए केंद्र सरकार की राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने जो मई 2004 से अस्तित्व में आई, ने एक नई नीति का प्रारूप तैयार किया जिसे अधिकांश लोगों ने स्वीकार करने योग्य माना क्योंकि यह उनके विचारों से मिलती-जुलती थी (सेठी 2006)। ग्रामीण विकास मंत्रालय ने इससे संबंधित एक अन्य प्रारूप तैयार किया जिसमें 2004 की नीति को थोड़ा और बेहतर किया गया था (सिंह 2006)। हालांकि केंद्र सरकार ने बाद वाली नीति की संशोधित नीति के तौर पर 31 अक्टूबर 2007 को घोशणा कर दी और पुनर्वास विधेयक तथा भूमि अधिग्रहण अधिनियम में संशोधन के लिए प्रस्ताव भी तैयार कर लिया। इन दस्तावेजों की भूमिका काफी सीमित थी। इन सभी प्रारूपों तथा नीतियों में विस्थापन को बेहद सामान्य तौर पर लिया गया था। हालांकि प्रारूप के दस्तावेजों के जरिए मंत्रालयों के प्रशासनिक अधिकारियों ने विस्थापन के दुष्प्रभावों की ओर ध्यान दिया और इसी संदर्भ में डीपी/पीएपी को राहत पहुंचाने की कोशिश की गई। हालांकि कई ताकतवर मंत्रालयों, जिनके इस मसले पर व्यापारिक हित जुड़े हुए थे ने इस प्रयासों को काफी हद तक सीमित कर दिया। इन सारे हालात के बीच नागरिक समूहों ने अनसुने तबके की आवाज बनने की अपनी मुहिम जारी रखी। इस वजह से प्रारूप में कुछ सुधार लाया जा सका। लेकिन इससे संबंधित अंतिम नीतियां तथा भूमि अधिग्रहण एवं पुनर्वास से संबंधित विधेयकों ने ये प्रयास दृष्टिगत नहीं हो सके। इनमें डीपी/पीएपी के हितों की बजाय व्यावसायिक हित ज्यादा नजर आए।

विकास प्रेरित विस्थापन का विस्थापितों पर प्रभाव-

1. **विस्थापन में लाचारी से बदहाली तक** - अध्ययनों से पता चलता है कि विस्थापन और वंचित होने का पहला नतीजा निर्धनता के तौर पर सामने आता है। निर्धनता सीधे लोगों की आर्थिक स्थिति की बदहाली और परियोजना के चलते उनकी आजीविका से हाथ धो बैठने की स्थिति से जुड़ी हुई है, इसमें पहले से उनकी गरीबी की स्थिति का कोई लेना-देना नहीं है। विस्थापन की वजह से बहुसंख्यक आबादी निर्धनता या दरिद्रगी की ओर धकेल दी जाती है, वहीं अल्पसंख्यक आबादी को खासकर ताकतवर तबके को इससे अपनी आर्थिक स्थिति बेहतर करने में मदद मिलती है (कार 1990)। विस्थापन की वजह से अधिकांश आदिवासी, दलित व अन्य ग्रामीण गरीब, खासतौर पर महिलाओं का नुकसान होता है। विस्थापन तथा वंचित रहने की वजह से इन वर्गों के अधिकांश डीपी/पीएपी उपेक्षित कर दिए जाते हैं। हालांकि विस्थापन तथा वंचितों के मुद्दे का एक अहम अंग डीपी/पीएपी का प्रकार तथा इस मुद्दे पर राष्ट्रीय जागरूकता का अभाव है। पुनर्बसाहट किए गए लोगों में से अधिकांश का पुनर्वास न हो पाने का एक अहम कारण यह है कि अधिकांश डीपी आदिवासी, दलित या अन्य ग्रामीण गरीब होते हैं जिनका समाज के अन्य वर्गों के साथ औपचारिक परिचय नहीं होता।

2. **कमजोर तबके की उपेक्षा**: - विस्थापन की वजह से पहले से ही गरीब तबके को ऐसे नए समाज में धकेल दिया जाता है जिसमें उनके लिए आपस में जुड़ाव की कोई तैयारी नहीं होती। इसीलिए, भले ही उनका पुनर्बसाहट कर दिया जाए वे नए समाज और आर्थिक स्थिति में खुद को ढालने के लिए कतई तैयार नहीं होते। उदाहरण के तौर पर, ओड़ीशा के राउरकेला स्टील प्लांट में नौकरी पर रखे गए कई डीपी को यह कहते हुए नौकरी से बाहर कर दिया गया कि वे अनुशासनहीन हैं, शराब पीते हैं तथा अनियमिति हैं। एक अध्ययन (वीगस 1992: 42-43) से पता चलता है कि इसका असल कारण यह है कि उन्हें अनौपचारिक खेतिहर पृष्ठभूमि से औद्योगिक परिदृश्य में धकेल दिया गया। ऐसे में काम करने के लिए उनकी समय संबंधी समझ में भिन्नता आ गई। डीपी इससे पहले समय की औद्योगिक अवधारणा से परिचित नहीं थे और इसीलिए वे उसे अनुशासन और समय की पाबंदी के साथ नहीं चल सके जो विस्थापन ने उनके ऊपर थोप दिया था। ऐसे में शराब पीना उनके लिए इस स्थिति ने न जूझ पाने की नाकामी छिपाने का तरीका बन गया। डीपी/पीएपी की उपेक्षा का एक और चिन्ह बहुविस्थापन के तौर पर सामने आया। ऐसा दीर्घावधि क्षेत्रीय योजना के अभाव के चलते हुआ। उदाहरण के तौर पर रिहंद बांध के ज्यादातर विस्थापित बीते तीस वर्षों में तीन बार उजाड़े गए (गांगुली ठकुराल 1989 : 47-48)। कर्नाटक के काबिनी बांध से 1970 में विस्थापित हुए सोलिगा आदिवासियों को राजीव गांधी नेशनल पार्क (चेरिया 1996) से एक बार फिर विस्थापन का खतरा झेलना पड़ा। मैंगलोर पोर्ट से 1960 में विस्थापित हुए कई मछुआरे परिवार 1980 के दशक में कोंकण रेलवे की वजह से फिर से उजाड़े गए। जबकि उस वक्त उन्होंने मछली पालन की जगह खेती करने की आदत अपना ली थी (फर्नांडीज 1991 : 247)। मिजोरम के आदिवासी परिवार जिन्होंने अपनी जमीन आईजा◌ॅल के लेंगपुई एअरपोर्ट के बनने में गंवा दी थी, 1990 के एक दशक में तीन बार विस्थापित हुए। पहली बार एअरपोर्ट के लिए, फिर जहां उन्हें बसाया गया वहां की जमीन सड़क बनाने के लिए अधिग्रहीत कर ली गई, और तीसरी बार वे स्टाफ क्वार्टर के लिए जमीन की जरूरत की वजह से उजाड़े गए (गर्ग, 2007)। बहुविस्थापन के ऐसे और भी उदाहरण हैं। इसका मुख्य कारण किसी क्षेत्रीय योजना का अभाव है। बल्कि यह योजनाकारों की इस प्रवृत्ति की वजह से है जिसमें वे जरूरत से ज्यादा जमीन अधिग्रहीत कर लेते हैं। उदाहरण के तौर पर संभलपुर के पास बसा बुरलाशहर हीराकुंड बांध के लिए अधिग्रहीत अतिरिक्त जमीन पर बसाया गया है। आंध्रप्रदेश के मेदक जिले में भेल ने अपनी अतिरिक्त जमीन अनुसंधान संस्थान 'आईसीआरआईएसएटी' को दे दी। ओड़ीशा के कोरापुट जिले के एमआईजी-एचएल प्लांट सुनाबेदा में 1966 में अधिग्रहीत जमीन का करीब दो तिहाई हिस्सा तीन दशक तक बिना किसी उपयोग के पड़ा रहा। यहां 468 परिवार बेदखल किए गए जो न तो बसाए गए और ना ही इस जमीन पर वनीकरण हुआ। एक रिपोर्ट के मुताबिक इसका एक हिस्सा एक निजी कंपनी को भारी मुनाफे में बेच दिया गया (पांडे 1998 बी:35) ।
3. **हमले की जद में गरीब**: - गरीबों के पुनर्वास तथा इससे संबंधित भरोसेमंद आंकड़ों के अभाव का एक अहम कारण संभवतः यह है कि अधिकांश डीपी/पीएपी निशक्त वर्ग से आते हैं यानी सत्ता से दूर। आदिवासी

जो कुल आबादी का 8.08 प्रतिशत हैं डीपी/पीएपी के 40 फीसदी से भी ज्यादा हैं (सारणी 1.4)। आंध्रप्रदेश में उनकी कुल आबादी राज्य की आबादी का करीब 6 प्रतिशत है लेकिन यहां डीपी/पीएपी में इनकी हिस्सेदारी 30.19 प्रतिशत है (फर्नांडीज 2001: 85)। ओड़ीशा में वे कुल आबादी का 22 प्रतिशत हैं जबकि डीपी/पीएपी में उनकी हिस्सेदारी है 40.38 प्रतिशत (फर्नांडीज तथा आसिफ 1997: 112)। यहां तक केरल और कर्नाटक में जहां वे कुल आबादी के एक प्रतिशत के करीब हैं, बड़ी परियोजनाओं (मुरिक्कन 2003) तथा काबिनी बांध (चेरिया 1996) में उनकी संख्या बहुतायत में है। यानी संख्या में भले ही कम या ज्यादा हों, पर डीपी/पीएपी में आदिवासी आबादी की बहुतायत है। इसके बाद नंबर आता है दलितों का जो डीपी/पीएपी में करीब 20 फीसदी हैं (महापात्रा 1994)। आंध्रप्रदेश में जहां वे कुल आबादी का महज 16 प्रतिशत हैं, डीपी/पीएपी में उनकी भागीदारी 20 फीसदी की है। इनके अलावा अन्य गरीबों की, खासकर अन्य पिछड़ा वर्ग की इसमें हिस्सेदारी काफी ज्यादा है, भले ही उनकी वास्तविक संख्या का हमें पता नहीं हो। इनका पता चलना इसलिए भी काफी मुश्किल है हाल तक उनकी गिनती सामान्य श्रेणी में ही की जाती रही है। आंध्रप्रदेश के श्रीहरिकोटा तथा सिम्हाद्रि तथा केरल में स्पेस स्टेशनों जैसी परियोजनाओं के आंकड़े बताते हैं कि मछुआरे व खनन से जुड़े श्रमिक परिवार कुल डीपी/पीएपी परिवारों के 30 प्रतिशत हैं (फर्नांडीज 2001 : 85)। यानी वे भी कुल डीपी/पीएपी के 20 प्रतिशत तक हो सकते हैं।

4. **गरीबी से हाशिए की ओर:** - कोई बेहतर विकल्प मुहैया कराए बगैर भरण-पोषण या आजीविका का नुकसान होने का पहला नतीजा होता है गरीबी या दरिद्रता। बहुत से डीपी/पीएपी खासकर पिछड़े व सत्ताहीन तबके से जुड़े लोग गरीबी या दरिद्रता से भी आगे अपनी आर्थिक स्थिति के खराब होने की वजह से हाशिए पर धकेल दिए जाते हैं। खासकर उनके सामाजिक, सांस्कृतिक व मनोवैज्ञानिक स्तर के खोने के बाद। उनकी आर्थिक स्थिति, संस्कृति और पहचान जमीन, जंगलों और अन्य प्राकृतिक संसाधनों से उनके जुड़ाव पर निर्भर होती है। लेकिन परियोजनाओं के चलते वे इन सबसे दूर हो जाते हैं और अपनी सांस्कृतिक विरासत, आध्यात्मिक विश्वास, इतिहास, मिथकों आदि से भी कट जाते हैं। विस्थापन की वजह से उनकी पारंपरिक जीवन-शैली, सामाजिक ताना-बाना और सांस्कृतिक अभ्यास सभी बिगड़ जाते हैं तथा इसका असर उन पर मनोवैज्ञानिक ढंग से पड़ता है (पमेई 2001)। इन सबके अलावा एक समाज जो पूरी तरह पैसों पर आधारित अर्थव्यवस्था से इधर एक अनौपचारिक जीवन जी रहा था, अचानक एक ताकतवर, औपचारिक धन-केंद्रित समाज में जबरन धकेल दिया जाता है जिनके साथ ताल-मेल बिठाने तक की उसकी तैयारी नहीं होती। इस हालत में वे उस संस्कृति को आत्मसात करने की कोशिश करते हैं जो परियोजना से जुड़े बाहरी लोग अपने साथ लाते हैं। बाहरी लोग खुद को उनसे बेहतर मानते हैं। ऐसे में स्थानीय लोग खुद को कमतर आंकने लगते हैं और अपने समुदाय को भी हीनभावना से देखने लगते हैं (गावेंता 1980 : 7-9)। यह स्थिति विस्थापितों को हाशिए पर धकेले जाने के लिए अंतर्निहित है और आर्थिक बदहाली से बाद ही स्थिति है। इससे उनकी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति और भी बदहाल हो जाती है। वे खुद को ऐसे समुदाय के तौर पर देखना

शुरू कर देते हैं जो खुद के विकास के योग्य ही नहीं है या ऐसी परियोजना के लाभ से अपना हिस्सा मांग सकती है जिसके विकास की कीमत उन्होंने ही चुकाई है। इस बदहाली के चलते उनका शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, वहीं काम करने के प्रति उत्साह तथा प्रेरणा की कमी की कमी से उनमें उनके भविष्य के प्रति आशा नहीं बचती। वे अपनी ताकत को पहचानने में भी नाकाम हो जाते हैं और खुद को इस अवसाद व दबी स्थिति से उबारने में अक्षम मानने लगते हैं। कुछ तो यह भरोसा कर लेते हैं कि यही उनकी किस्मत है और दूसरे इस विचार को आत्मसात कर लेते हैं कि वे इनपर हावी हो सकते हैं क्योंकि ये उनसे निचले दर्जे के हैं। अपने जंगलों, भूमि तथा अन्य संसाधनों से अलग होने के नतीजे में कई आदिवासी समुदाय अपनी संस्कृति को भुला देते हैं। जबकि इस संसाधनों के होने तक यह तय था कि उनके बीच हर चीज का समान बंटवारा और समान उपयोग होगा। लेकिन इस स्थिति से वे संरचनात्मक निर्भरता से विध्वंसात्मक निर्भरता की ओर बढ़ते हैं। वे अपनी आजीविका के लिए संसाधनों को नष्ट करना शुरू कर देते हैं (रेड्डी 1995)।साफ है कि हाशिए पर धकेले जाने, दरिद्रता और अपनी स्थिति को स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति की चलते वे प्रगति करने से खुद को ही रोक लेते हैं। जान गावेंटा (1980 : 3-5) ने इस स्व-चित्रण को उन तीन आधारों का ही एक हिस्सा बताया जिन पर असमान समाज बनते और पनपते हैं। पहला चरण है कानूनी समानता। सत्ताधीश वर्ग संस्थाएं और व्यवस्थाएं बनाता है जो सभी के लिए कानूनी तौर पर उपलब्ध होती हैं लेकिन कमजोर की इन तक पहुंच नहीं बन पाती, क्योंकि इसके लिए जिस भाषा, संस्कृति और खर्च का इस्तेमाल होता है वह उनके बस के बाहर है। उदाहरण के तौर पर, अदालतें सभी के लिए उपलब्ध हैं लेकिन गांव से दूरी, भाषा तथा खर्च की वजह से यह आम लोगों से दूर हैं। 'हम जानते हैं कि लोग अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए अदालत जा सकते हैं, गरीब खुद को अदालत नहीं जाते पर ले जाए ज़रुर जाते हैं' (बख्शी 1983 : 103)। दूसरा चरण है सीमित लोगों की पहुंच का जिसके तहत व्यवस्था को चोट पहुंचाए बिना कुछ लोग कुछ खास सुविधाओं का लाभ उठाते हैं। उदाहरण के तौर पर, कुछ गरीब बच्चे अमीरों के लिए बनाए गए स्कूलों में दाखिला पा जाते हैं। उनमें से कई आर्थिक तथा सांस्कृतिक कारणों से स्कूल छोड़ जाते हैं। हालांकि लाभकर्ता वर्ग को यही लगता है कि वे उनके बौद्धिक स्तर तक पहुंच पाने के काबिल नहीं हैं (नाइक 1975: 8-13)। वे आर्थिक हालात की वजह से लिए गए उनके निर्णयों को सांस्कृतिक बताते हुए इस भेदभाव को सही भी मान लेते हैं। अंतिम चरण अधीनस्थ वर्ग की प्रभावी मानने की विचारधारा है जिसके तहत वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि उनका खुद का समाज तुच्छ है। कोई भी असमान समाज तब तक नहीं जी सकता जब तक अधीनस्थ वर्ग प्रभावी मानने की विचारधारा व मूल्यों को आत्मसात न कर ले (गावेंटा 1980: 25-30)। उदाहरण के तौर पर पुरुष तथा महिलाएं दोनों ही इस व्यवस्था को आत्मसात कर चुके हैं जिसमें महिलाओं को दोयम दर्जा दिया जाता है, खासकर तब जब वे विस्थापितों के साथ नए क्षेत्र में पहुंचते हैं। कई बार जब बेरोजगार महिलाएं जिन्हें केवल एक व्यक्ति के वेतन से अपने परिवार का गुजर-बसर करना होता है, कम वेतन वाले अकुशल काम की तलाश में जाती हैं तो पुरुष जो परियोजना कार्यालय में एक कर्मचारी या श्रमिक होता है, यह कहकर

आपत्ति जताता है कि वह एक ऑफिस कार्यकर्ता की पत्नी है, ऐसे में निचले दर्जे का काम कैसे कर सकती है। ऐसा कर वह उस आय से परिवार को वंचित रखता है जिससे परिवार की पोषण ज़रूरतें कुछ हद तक पूरी हो सकती थीं (मेनन 1995 : 102)। वहीं पारंपरिक तौर पर बेहतर दर्जा रखने के बावजूद ओड़ीशा तथा आंध्रप्रदेश में आदिवासी महिलाएं अकुशल श्रमिक के तौर पर कम वेतन वाले काम करने के लिए मजबूर की जाती हैं, यहां यह बात आत्मसात कर ली जाती है कि पितृसत्तात्मक समाज में महिलाएं उतनी बुद्धिमान नहीं हैं और इसीलिए उनके जैसा काम नहीं कर सकतीं, इसलिए उनका वास्तविक काम हाउस वाइफ या घरवाली का है और उनका स्थान घर के अंदर ही है (फर्नांडीज 2008बीः 125-126)। इसके अलावा, अभाव की वजह से प्रभावित डीपी/पीएपी प्रभावी व्यवस्था की विचारधारा के साथ ऐसे असमान टकराव की ओर धकेल दिए जाते हैं जिसके प्रति उनकी जानकारी बेहद कम होती है और अपनी आजीविका से दूर कर दिए जाने की वजह से तैयारी बेहद लचर। ऐसे में वे नई स्थिति से तालमेल नहीं बिठा पाते। उनके विस्थापन तथा अभाव की दिशा में उठाया गया हर एक कदम, जो परियोजना में अहम निर्णयों के तौर पर होता है, जिसमें कम मुआवजा और पुनर्वास का अभाव शामिल होता है, से उनके खुद को कमतर आंकने तथा दूसरों के प्रभाव में जीने की स्थिति स्वीकार करने की प्रवृत्ति और मजबूत होती है। उनकी दरिद्रता तथा हाशिए पर जीने का एक अहम कारण निर्णयकारी वर्ग की विचारधारा है। इनमें से अधिकांश डीपी/पीएपी की भलाई की बजाय आर्थिक तरक्की को ज्यादा तरजीह देते हैं। अधिकांश परियोजनाओं में उनके पास पुनर्बसाहट तथा पुनर्वास योजनाएं होती हैं जो भौतिक पुनर्बसाहट को ही सुनिश्चित करती हैं पुनर्वास को नहीं। और इस तरह विकास के प्रतिमानों से संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत उनके अधिकारों का उल्लंघन होता है तथा वे और भी अभावग्रस्त हो जाते हैं।

भूमि अधिग्रहण का हर एक कदम उनके हाशिए पर धकेले जाने में अपनी भूमिका निभाता है। उनकी आजीविका बिना उनकी सहमति के अधिग्रहीत कर ली जाती है। इससे वे सुनिश्चित करते हैं कि खुद के निर्णय लेने में उनकी स्थिति कमतर है। यहां तक कि परियोजना के बारे में अधिकारी भी उन्हें कुछ नहीं बताते। उदाहरण के तौर पर ओडीशा में कुल डीपी/पीएपी के 40 प्रतिशत तथा असम में एक तिहाई ने परियोजना के बारे में तब सुना जब अधिकारी उनकी जमीन के आकलन के लिए पहुंचे। अन्य को इसकी जानकारी गांव में चल रही चर्चा के दौरान मिली। उच्च शिक्षित केरल को छोड़कर बहुत ही कम डीपी/पीएपी ऐसे थे जो अखबारों में प्रकाशित परियोजना से संबंधित अधिसूचनाओं को पढ़ सकते हों। वहीं एक ताकतवर तबका ऐसा भी है जो उनकी इस अनभिज्ञता का फायदा उठाकर अफवाहें फैलाता है और उन्हें अपनी जमीनें बेहद कम कीमत में बेचने के लिए दबाव बनाता है। ज्ञान ही ताकत है। लेकिन इसे लोगों से दूर रखकर परियोजना निर्धारक इन कमजोर लोगों को निषक्त बना देते हैं। उनके अंदर असुरक्षा और भय की भावना पनपती है जिसके नतीजे में वे नियतिवाद के शिकार बन जाते हैं और प्रगति की उनकी प्रेरणा कमजोर पड़ जाती है (गुड 1996: 1505)। अपनी जमीन को बाहरी लोगों को बेचने से उनकी हताशा, असहायता, नियतिवाद तथा खुद

को विकसित करने के लिए अक्षमता ही नजर आती है। सामुदायिक संसाधनों के सही मुआवजे के अभाव तथा बाजार भाव से बेहद कम कीमत पर जमीनों की कीमत निर्धारित किए जाने वे पिछड़े इलाकों में रह रहे इन लोगों के क्षेत्र महज लाभ के तौर देखे जाने लगते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि सामुदायिक संसाधनों पर निर्भर ये लोग जिनके पास और कोई संपत्ति नहीं होती, अपनी आजीविका बिना किसी विकल्प के दूसरों को सौंप देते हैं (सेरनिया 2007)। ऐसी स्थिति में वे प्रभावशील समाज के एकदम सामने आ खड़े होते हैं जबकि उनकी हालत दयनीय और उलट-पुलट वाली होती है। एक बेहतर समाज के साथ इस असमान टकराव की स्थिति में उनके अंदर यह भावना और भी प्रबल हो जाती है कि वे असहाय हैं तथा जो हो रहा है वही उनकी नियति है। यही नहीं, मशीनीकरण तथा श्रम बचाने वाली तकनीकों की वजह से उन्हें महसूस होता है कि खुद को कमतर आंकने की उनकी सोच गलत नहीं है। ऐसा इसलिए भी होता है कि नई सोच में उनकी पारंपरिक तकनीक को ही दरकिनार नहीं किया जाता, बल्कि जो तकनीक इस्तेमाल होती है वह इनकी पहुंच में भी नहीं होती। सही पुनर्वास के अभाव और घटिया गुणवत्ता से रही-सही कसर भी दूर हो जाती है। अधिकांश मामलों में डीपी तभी पुनर्वसित हो पाते हैं जब वे परियोजना के खिलाफ आंदोलन छोड़ देते हैं या अधिक लाभ के लिए लड़ाई करते हैं। या फिर जब अंतरराष्ट्रीय अनुदान संस्थाएं इसके लिए दबाव बनाती हैं या सामाजिक जागरूकता के चलते प्रशासक योजना में इसे शामिल करें। अगर ये परिस्थितियां कारगर ना हों तो उस हालत में कमजोर लोग पूरी तरह उपेक्षित रह जाते हैं। उदाहरण के तौर पर महाराष्ट्र में 70 के दशक में 220 में महज 133 मध्यम बांधों को ही महाराष्ट्र पुनर्वास अधिनियम 1976 के तहत लाए गए। 94,387 परिवारों में से 28.5 प्रतिशत को भूआवंटन के योग्य माना गया और उन्हें जमीन दी भी गई। बांध प्रभावितों में 31.4 प्रतिशत गैर आदिवासी तथा 15.18 प्रतिशत आदिवासी परिवार थे (फर्नांडीज 1990:36)। यहां तक कि परियोजना से जुड़े स्टाफ तक पुनर्बसाहट पैकेज को कल्याण के तौर पर देखते थे ना कि विस्थापितों के अधिकार के तौर पर। संविधान के अनुच्छेद 21 के बावजूद भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया के दौरान उनकी स्वतंत्र कामगर की स्थिति को सस्ते मजदूर के तौर पर बदल दिया गया। ऐसे तथा इसी तरह के अन्य तरीकों से उनकी संस्कृति तथा सामाजिक जिंदगी का मूल्य कमतर कर दिया गया तथा उन्हें गरीबों से बिना अधिकार के व्यक्तियों की तरह व्यवहार किया गया। उनकी आजीविका को उपभोक्ता सामग्री के तौर पर माना गया और उन्हें यह संदेश देने की कोशिश की गई वे त्याज्य सामग्री की तरह हैं। इस तरह विस्थापितों की आजीविका के प्रति सम्मान के अभाव तथा कम मुआवजे के मिश्रण से यह सुनिश्चित किया जाता है वे खुद को कमतर ही आंके (हेयरडेरो 1989: 33-34)। सांस्कृतिक बदलाव भी इसमें जुड़ जाता है। उदाहरण के तौर पर, जैसा पहले कहा जा चुका है आदिवासी समुदाय अपनी आजीविका को ऐसे संसाधन के तौर पर देखते हैं जो पुरखों से उनके पास ही बने रहे हैं। अभाव की वजह से उनकी यह परंपरा कमजोर होती है। ऐसे में आजीविका के लिए उन्हें अपने संसाधनों का अत्यधिक शोषण करना पड़ता है। वे अपने जंगलों की लकड़ियां काटकर जलावन के तौर पर बेचते हैं और रोजाना की मजदूरी कमाते हैं या फिर ठेकेदारों के बंधुआ मजदूरों के तौर पर काम

करते हैं। इस बदलाव से भविष्य के प्रति उनकी आशाएं खत्म हो जाती हैं। वे केवल वर्तमान के ही बारे में सोचते हैं क्योंकि वे इन संसाधनों को अगली पीढ़ी के लिए बचाकर नहीं रख सकते। इसके नतीजे में वे और भी दरिद्रता की ओर बढ़ते हैं तथा सामाजिक व मनोवैज्ञानिक तौर पर टूट जाते हैं। ऐसे में सत्ताहीनता ही एक प्रवृत्ति उनके अंदर घर कर जाती है और खुद को बेहतर करने या आजाद करने की उम्मीद खत्म हो जाती है (फर्नांडीज 2000 : 218-222)।

उपसंहार:- इस दस्तावेज के जरिए विस्थापन और अभाव को पैदा करने वाला विकास की पृश्ठभूमि तथा आजीविका से वंचित रखने के अन्य तरीकों के बारे में बताया गया है जिनकी वजह से विकास परियोजनाओं के चलते लोगों को विस्थापित कर उनकी आजीविका प्रभावित की जाती है। लोगों को उनके संसाधनों से अलग करने की प्रक्रिया औपनिवेशिक दौर में ही शुरू हो गई थी और 1947 के बाद योजनाबद्ध विकास में यह और भी ज्यादा बढ़ी। यही नहीं, विस्थापन और अभाव की प्रकृति में भी बदलाव आया, पहले महज प्रक्रिया आधारित दखल सेबढ़कर यह भूमि और उनकी आजीविका के सीधे नुकसान तक पहुंच गई। धीरे-धीरे इसकी तीव्रता बढ़ी लेकिन जागरूकता और पुनर्वास दोनों ही क्षेत्रों में कमजोरी रही। इसका मुख्य कारण यह है कि विकास के प्रतिमानऔपनिवेशिक देशों से लिए गए और स्वतंत्र भारत के निर्णयकारी लोगों द्वारा जस के तस लागू कर दिए गए। उदारीकरण के दौर का नतीजा निर्बल लोगों के और दरिद्र होने के तौर पर सामने आया। यह भी बेहद स्पष्ट है कि विस्थापन और जमीन के इस्तेमाल में बदलाव का असर डीपी/पीएपी के आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर पड़ा है। इनकी संख्या काफी बड़ी है। यह प्रायद्वीप अभी भी 1947 के बंटवारे के सदमे से पूरी तरह उबर नहीं पाया है जिसमें डेढ़ करोड़ लोगों को प्रभावित किया था। ये लोग भारत व पाकिस्तान के दोनों हिस्सों में आए-गए थे। लेकिन भारत से कई बार राश्ट्रीय विकास के नाम पर इस संख्या को दरकिनार कर दिया और लोग अपनी आजीविका से बेदखल होते रहे। भरोसेमंद आंकड़ों के अभाव तथा पांच दशकों तक पुनर्वास नीति के न बनने से डीपी/पीएपी के प्रति सरकार की संवेदनहीनता साफ तौर पर नजर आती है। इस स्थिति से यह भी पता चलता है कि योजनकारों का सारा ध्यान योजना के वित्तीय व तकनीकी पहलुओं परही जाता है, लेकिन वे इस बात का पता लगाने के बेहद कम प्रयास करते हैं कि उनकी योजनाओं के कितनेलोग प्रभावित होने वाले हैं। जब पुनर्बसाहट की कवायद होती है, तो हाशिए पर जी रहे समुदायों, महिलाओंतथा बच्चों की जरूरतों को नजरअंदाज कर दिया जाता है। डीपी/पीएपी के बारे में सही सूचना, जो विस्थापनकी त्रासदी को घटाने, योजना के नफा-नुकसान का सही विश्लेषण करने के लिए जरूरी होती है, नजरअंदाजकर दी जाती है। यह चुनौती अब नागरिक समूहों को स्वीकारनी होगी, दोनों ही स्वरूपों में, अध्ययन के तौर परभी और बदलाव के लिए लोगों को जागरूक करने के तौर पर भी।